कलिकालसर्वज्ञ–श्रीमद्विजयहेमचन्द्रसूरीश्वरेण विरचिता

# अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका

तस्योपरि

शासनसम्राट्–श्रीमद्विजयनेमि–लावण्य–दक्ष–सूरीश्वराणां
पट्टधराचार्य श्रीमद् विजयसुशीलसूरिणा
रचिता टीका

# स्याद्वाद–बोधिनी

(हिन्दीश्लोकार्थ–भावार्थयुक्ता)

सम्पादकः

वाचकश्रीजिनोत्तमविजयो गणिः

卐 श्रीनेमि-लावण्य-दक्ष-सुशील ग्रन्थमाला रत्न १०३ वाँ 卐

कलिकालसर्वज्ञ-श्रीमद्हेमचन्द्रसूरीश्वरेण
विरचिता

# * अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका *

— तस्योपरि —

शासनसम्राट् - सूरिचक्रचक्रवर्त्ति - तपोगच्छाधिपति-परमपूज्याचार्यमहाराजाधिराज **श्रीमद् विजयनेमि-सूरीश्वराणां** दिव्यपट्टालङ्कार-साहित्यसम्राट्-परम-पूज्याचार्यप्रवर **श्रीमद् विजयलावण्यसूरीश्वराणां** प्रधानपट्टधर-संयमसम्राट्-परमपूज्याचार्यवर्य **श्रीमद् विजयदक्षसूरीश्वराणां** पट्टधराचार्य **श्रीमद् विजय-सुशीलसूरिणा रचिता टीका**

# 卐 स्याद्वाद-बोधिनी 卐

❀ प्रकाशिका ❀

**श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर**

卐 सम्पादकः सदुपदेशकश्च 卐

जैनधर्मदिवाकर - राजस्थानदीपक
तीर्थप्रभावक - प्रतिष्ठाशिरोमणि
परमपूज्याचार्यदेव
**श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वराणां**
सुप्रसिद्धपट्टधर - सुमधुरप्रवचनकारक -
कार्यदक्ष - परमपूज्यवाचक
**श्रीमद् जिनोत्तमविजयो गणिप्रवरः ।**

卐

श्रीवीर सं. २५२३, विक्रम सं. २०५३, नेमि सं. ४८
प्रतियाँ–१०००, प्रथमावृत्ति, मूल्य–

— द्रव्यसहायक :—
**श्री जैन श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक संघ**
लुणावा नगर (राज.)
जि. पाली, स्टे. फालना

मुद्रक :
**ताज प्रिण्टर्स**, जोधपुर-342 001 ✆ 621435, 621853

# ❀ समर्पण ❀

'अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका'

ग्रन्थ के प्रणेता

परम पूज्य

कलिकालसर्वज्ञ

श्रीमद् हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराजश्री

को

प्रस्तुत टीका

स्याद्वादबोधिनी

सविनय सादर समर्पित

—वाचकजिनोत्तमविजयः गणि

# प्रस्तावना

भारतीय मनीषा अनादिकाल से तत्त्वार्थ-निर्णय के लिए सत्यान्वेषण के नये उन्मेष समुद्घाटित करती रही है। तत्त्व-दर्शी मनीषियों की पंक्ति में **आचार्य श्री हेमचन्द्र जी** महाराज अग्रगण्य श्रमणावतंस हैं। **'अन्ययोगव्यवच्छेदिका'** आपके द्वारा विरचित भगवान महावीर की स्तुति है। प्रस्तुत स्तुति भाव-पूर्णता और दार्शनिक अर्थगाम्भीर्य से ओत-प्रोत है। बत्तीस श्लोकों से विलसित यह स्तुति जैनधर्म एवं दर्शन के मूलाधार को सुस्पष्ट करने में सबल सिद्ध हुई है। **श्री मल्लिषेण सूरि** ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा से **'स्याद्वादमंजरी'** नामक टीका-ग्रन्थ के द्वारा 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' के गूढ़ार्थ को उत्कृष्ट दार्शनिक रीति से उद्भावित किया है किन्तु सम्प्रति जिज्ञासु बाल-मुनियों, पिपठिषु विद्यार्थियों को स्याद्वादमञ्जरी कठिन प्रतीत हो रही है। अनेक विद्वान् भी यह चाहते हैं कि कोई सरल तथा सुबोध टीका हो, जिसके माध्यम से सरलता से इसका मूलभाव तथा अर्थ स्फुटित हो सके।

आचार्यप्रवर श्रीमद्विजय सुशील सूरीश्वर जी महाराज साहब ने **'स्याद्वादबोधिनी'** नामक संस्कृत टीका की रचना करके सरलता से इसका गूढ़ार्थ प्रामाणिक रीति से सुस्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। शिष्यों-प्रशिष्यों के सादर अनुरोध से **हिन्दी विवेचन** के माध्यम से आपने विषयवस्तु को सहज-गम्य बनाकर हिन्दी साहित्य जगत् की शोभा भी संवर्धित की है। प्रस्तुत **स्याद्वादबोधिनी** का आधार आचार्य श्री हेमचन्द्र की 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' है अतः मूल ग्रन्थकार का संक्षिप्त परिचय परमावश्यक है।

## कलिकालसर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्र

श्री हेमचन्द्र सूरि श्वेताम्बर जैन परम्परा के जाज्वल्यमान असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् थे। आपका जन्म ई. १०७८ में गुजरात के **धन्धुका** नामक ग्राम में मोढ़ वणिक् जाति में हुआ था। आपका नाम चंगदेव था। पिता का नाम चाचिग (चच्च) तथा माता का नाम पाहिणी था।

एक बार श्री देवचन्द्र नाम के जैन आचार्य धन्धुका ग्राम पधारे। चंगदेव की अवस्था मात्र पाँच वर्ष की थी। पाहिणी माता अपने पुत्र को साथ लेकर जिनमन्दिर दर्शन करने गई। आचार्य श्री देवचन्द्र उसी मन्दिर में आकर ठहरे थे। जिस समय पाहिणी जिनबिम्ब की प्रदक्षिणा दे रही थी। चंगदेव आचार्य देवचन्द्र महाराज के पास आकर बैठ गये। आचार्यश्री ने चंगदेव के असाधारण सामुद्रिक चिह्नों को सहज ही परख लिया। एक दिन वे चंगदेव के घर पधारे तथा पाहिणी देवी से कहा कि तुम्हारा पुत्र अत्यन्त तेजस्वी है। यह गार्हस्थ्य नहीं अपनायेगा। आप इसे जैन साधु संघ में दीक्षित होने की अनुमति प्रदान करें। यह बालक जैन जगत् का भास्कर सिद्ध होगा। पाहिणी धर्मपरायणा थी अतः आचार्यश्री की आज्ञा को शिरोधार्य कर उसने दीक्षार्थ आत्म-स्वीकृति प्रदान की। चंगदेव आचार्य श्री देवचन्द्रजी की सेवा में रहने लगे। कुछ समय पश्चात् जब चंगदेव के पिता बाहर से लौटे तो इस घटना को सुनकर अतिक्रुद्ध हुए। तत्कालीन मन्त्री उदयन ने उन्हें शान्त किया तथा चंगदेव की विधिवत् दीक्षा करवायी। दीक्षा के पश्चात् चंगदेव का नामकरण मुनि सोमचन्द्र हुआ। यथा-शीघ्र ही सतत स्वाध्याय चिन्तन-मनन से सोमचन्द्र की प्रतिभा

निखरती गई। व्याकरण, साहित्य, दर्शन, छन्दःशास्त्र, योग-शास्त्र एवम् आगम में आपने अगाध पाण्डित्य तथा अपार दक्षता प्राप्त की। श्री देवचन्द्रसूरि जी ने आपकी असाधारण प्रतिभा तथा लोकोत्तर विकास को ध्यान में रखते हुए परम प्रसन्नता से आपको आचार्य पद से विभूषित किया। सोमचन्द्र आचार्य पदवी के पश्चात् हेमचन्द्रसूरि के नाम से जगविख्यात हुए।

आचार्य हेमचन्द्र विहार करते हुए गुजरात की तत्कालीन राजधानी अणहिल्लपुर पाटण पधारे। वहाँ महाराजा सिद्ध-राज जयसिंह का शासन था। सिद्धराज शैवधर्मावलम्बी विवेकी राजा थे। गुणों की सच्ची परख तथा गुण-पूजा उनकी अद्भुत विशेषता थी। सिद्धराज ने आचार्यश्री हेमचन्द्र को राजसभा में आमंत्रित किया। आचार्यश्री के प्रखर पाण्डित्य से महाराजा अत्यन्त प्रभावित हुए तथा उन्होंने सविनय गुरुदेव से अनुरोध किया कि एक सरल तथा सुबोध संस्कृत व्याकरण की आप रचना करें तो विद्यार्थी-जगत् का कल्याण होगा। आचार्यश्री ने अणहिल्लपुर में रहते हुए ही **'सिद्धहैमशब्दानुशासनम्'** की रचना की। यह अद्भुत व्याकरणग्रन्थ महाराजा के हाथी पर रखकर ससम्मान राजदरबार में लाया गया। आचार्य श्री हेमचन्द्र राजगुरु के रूप में सर्वत्र प्रथितप्रभावी हुए। सिद्ध-राज भी जैनधर्म के प्रति विशिष्ट आस्थावान बने। सिद्धराज के उत्तराधिकारी कुमारपाल तो आचार्यश्री को पूर्णरूप से राजगुरु ही मानने लगे थे। हेमचन्द्रसूरि के उपदेश से कुमारपाल ने अपने राज्य में जीवहिंसा, मांस, मद्य, द्यूत, आखेट बन्द करवाये तथा जैनधर्म के सिद्धान्तों का विशद प्रचार-प्रसार करवाया।

## ❀ उत्कृष्ट सृजन ❀

आचार्य श्री हेमचन्द्र के विषय में विख्यात है कि उन्होंने साढ़े तीन करोड़ श्लोकप्रमाण साहित्य सृजन किया है। आपकी प्रमुख ग्रन्थ रचनाएँ हैं—

१. सिद्धहैमशब्दानुशासनम्
   (i) प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण
   (ii) अष्टम अध्याय में प्राकृत व्याकरण

२. द्व्याश्रयमहाकाव्यम् (भट्टिकाव्य शैली में)
   (i) संस्कृत द्व्याश्रय
   (ii) प्राकृत द्व्याश्रय

३. अभिधानचिन्तामणिकोश: (सवृत्ति:)
   (i) अनेकार्थसंग्रह:
   (ii) देशीय नाममाला (रयणावलि)
   (iii) निघण्टुशेष:

४. काव्यानुशासनम्-सटीक
   (काव्यशास्त्र का सर्वांगीण, सलक्षण-मौलिक ग्रन्थ)

५. छन्दोऽनुशासनम्-सवृत्ति

६. प्रमाणमीमांसा (अपूर्ण)

७. अन्ययोगव्यवच्छेदिका

८. अयोगव्यवच्छेदिका

९. योगशास्त्र-सवृत्ति

१०. वीतरागस्तोत्र

११. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्

## 卐 अन्ययोगव्यवच्छेदिका-द्वात्रिंशिका 卐

दार्शनिक-वाग्जालों में विकीर्ण अनन्त सिद्धान्तों के संक्षिप्त तथा सारगर्भित प्रतिपादन के लिए मनीषियों ने विंशिका, त्रिंशिका तथा द्वात्रिंशिका रचनाओं का सफल सृजन किया है। इस विधा के रचनाधर्मियों में विज्ञानवादी आचार्य वसुबन्धु, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य हरिभद्रसूरि तथा आचार्यश्रीहेमचन्द्र का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है।

आचार्य हेमचन्द्रजी ने सिद्धसेन दिवाकर की द्वात्रिंशिकाओं को अनुसृत करते हुए दार्शनिक रहस्यों से परिपूर्ण अन्ययोग-व्यवच्छेदिका तथा अयोगव्यवच्छेदिका नामक दो द्वात्रिंशिकाओं की रचना की है। ये दोनों ही द्वात्रिंशिकायें भगवान महावीर की महनीय स्तुति के रूप में हैं किन्तु इनका दार्शनिक स्वरूप अक्षुण्ण तथा अक्षत है। इन द्वात्रिंशिकाओं में इकतीस श्लोक उपजाति छन्द तथा बत्तीसवाँ श्लोक शिखरिणी नामक छन्द में निबद्ध है।

**अन्ययोगव्यवच्छेदिका** में दर्शनान्तरों के दोष-पक्षों का सविमर्श खण्डन प्रस्तुत है। प्रारम्भ के तीन श्लोकों में तथा अन्त के तीन श्लोकों में वीर प्रभु के अतिशय, यथार्थवाद, नयमार्ग, निष्पक्ष-शासन, अज्ञानान्धकार-निवारण आदि का सुन्दर वर्णन है। सत्तरह श्लोकों में न्याय-वैशेषिक, मीमांसादर्शन, वेदान्तदर्शन, सांख्यदर्शन, बौद्धदर्शन तथा चार्वाकदर्शन की समीक्षा एवं नौ श्लोकों में **स्याद्वादसिद्धि** प्रदर्शित की गई है।

अन्ययोगव्यवच्छेदिका तथा अयोगव्यवच्छेदिका के श्लोक प्रमाणमीमांसावृत्ति, योगशास्त्रवृत्ति आदि में उद्धृत हैं। अतः ये द्वात्रिंशिकायें पूर्व की रचनाएँ हैं—यह प्रमाणित होता है। ध्यातव्य है कि अन्ययोगव्यवच्छेदिका के अनेक श्लोक माधवाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह में भी उद्धृत हुए हैं।

## यशस्वी टीकाकार : मल्लिषेण

विद्वद्रत्नमाला में मल्लिषेण नामक दो विद्वान् आचार्यों का उल्लेख है, जो मूलतः दिगम्बर आम्नाय से सम्बद्ध हैं। एक मल्लिषेण उभयभाषा चक्रवर्ती कहे जाते थे। आपकी महापुराण, नागकुमार महाकाव्य तथा सज्जनचित्तवल्लभ नामक ग्रन्थत्रयी अद्यावधि उपलब्ध है। 'मलधारिन्' मल्लिषेण दूसरे आचार्य थे। वे शक संवत् १०५० में फाल्गुन कृष्णा तृतीया के दिन श्रवणबेलगुल में समाधिस्थ हुए। प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका, ज्वालिनीकल्प, पद्मावतीकल्प, वज्रपंजर-विधान, ब्रह्मविद्या तथा आदिपुराण नामक 'ग्रन्थ' भी मल्लिषेण आचार्य-विरचित प्रसिद्ध हैं किन्तु वे कौन से मल्लिषेण हैं? इस सन्दर्भ में ऐतिहासिक निर्णय अभी विसंवाद का विषय है। स्पष्ट है कि मल्लिषेण नामक अनेक आचार्य हुए हैं।

स्याद्वादमंजरी की प्रशस्ति इस प्रकार है—

**नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोऽलंकारकौस्तुभाः ।**
**ते विश्ववन्द्या नंद्यासुरुदयप्रभसूरयः ।।**
**श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगमनदिनमणिभिः ।**
**वृत्तिरियं मनुरविमितशकाब्दे दीपमहसि शनौ ।।**
**श्रीजिनप्रभसूरीणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा ।**
**श्रुतावुत्तंसतु सतां वृत्तिः स्याद्वादमंजरी ।।**

अर्थात् नागेन्द्रगच्छीय उदयप्रभसूरि के गुरु थे तथा शक संवत् १२१४ (ई. १२९३) में दीपावली, शनिवार के दिन श्रीजिनप्रभसूरि की सहायता से मल्लिषेणसूरि ने **'स्याद्वादमंजरी'** की रचना सम्पूर्ण की। अतः स्पष्ट है कि स्याद्वादमंजरी के प्रणेता श्वेताम्बर जैनाचार्य थे। मल्लिषेण का पाण्डित्य स्याद्वादमंजरी में मंजरी की तरह सुवासित है। निःसन्देह वे बहुश्रुत मनीषी थे तथा उत्कृष्ट व्याख्याकार भी।

## स्याद्वादरत्नावतारिका

यह विद्वद्रत्नभोग्य टीका, नव्यन्याय की शैली में रचित पाण्डित्यपूर्णरचना है। इस विद्वन्मनोरंजिनी स्याद्वादरत्नावतारिका के व्याख्याता-प्रणेता आचार्यश्री रत्नप्रभसूरि हैं।

भाषात्मक जटिलता, अर्थकाठिन्य, दूरान्वियता के कारण यह व्याख्या नितान्त क्लिष्ट है। आज अधिकारी विद्वानों को भी इसे पढ़ाने में विशिष्ट सश्रम प्रयास करना पड़ता है।

## उपाध्याय यशोविजयकृत 'स्याद्वादमंजूषा'

उपाध्याय यशोविजयजी का जन्म सत्तरहवीं शताब्दी में हुआ था। वे श्रीमद् आनन्दघनजी के समकालीन थे। योगिराज आनन्दघन का गहन प्रभाव भी उपाध्यायश्री पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। उपाध्यायश्री आगमों के प्रखर ज्ञाता होने के साथ-साथ दार्शनिक, तार्किक एवं सिद्धसारस्वतीक थे। उन्होंने संस्कृत में न्याय व्याकरण, अध्यात्म जैसे गहन विषयों पर १०८ ग्रन्थों की रचना की थी। उन्होंने उत्कृष्ट विद्वान् ब्राह्मणों से उपाध्यायपद प्राप्त किया था।

मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने 'जैन साहित्य नो इतिहास' नामक पुस्तक के ६४५ पृष्ठांक पर उपाध्याय यशोविजय की उपलब्ध अप्रकाशित कृतियों में **'स्याद्वादमंजूषा'** नामक टीका का उल्लेख किया है।

मैंने इस अप्रकाशित कृति का अवलोकन नहीं किया है किन्तु अध्यात्मसार, ज्ञानसार आदि ग्रन्थों की विशेषता को विधिवत् जानने का सौभाग्य प्राप्त होने के कारण विश्वास है कि **'स्याद्वाद-मंजूषा'** नामक वृत्ति भी यशोविजयजी की दार्शनिक समन्वय साधना का बेजोड़ नमूना सिद्ध होगी। जैन संस्कृति एवं साहित्य के प्रचारकों से अनुरोध है कि वे उपाध्यायश्री की **'स्याद्वादमंजूषा'** को प्रकाशित कर जिज्ञासु जगत् का कल्याण करें।

## ❀ स्याद्वादबोधिनी ❀

वर्तमान समय में संस्कृत व्याख्या सरल तथा सहजगम्य होनी चाहिए क्योंकि अध्ययन-अध्यापन के सन्दर्भ में पूर्ववत् अभ्यासक्रम अब नहीं दिखाई देता है। फलत: अध्येता की आधारशिला कमजोर होती जा रही है। ऐसी परिस्थिति में संस्कृत व्याख्याओं का सरलीकरण तथा हिन्दी भाषानुवाद, भावार्थ परमावश्यक हो गया है। आचार्यप्रवर श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी महाराज साहब संस्कृत-हिन्दी-गुजराती तीनों ही भाषाओं के ज्ञाता तथा उत्कृष्ट साहित्यकार हैं। धार्मिक अनुष्ठान, तपोनिष्ठा, जिनशासन-प्रभावना की महनीय उद्भावनाओं में अतीव व्यस्त होते हुए भी आपश्री सतत नव-साहित्य-सृजन में दत्तचित्त रहते हैं। प्रस्तुत **'स्याद्वादबोधिनी'** आपके दार्शनिक ज्ञान का प्रसाद है।

प्रस्तुत टीका में प्रथम श्लोक से तृतीय श्लोक पर्यन्त प्रभु वीर के चार अतिशय सहित यथार्थवाद का विवेचन तथा जिनशासन की उत्कृष्टता प्रदर्शित है ।

तदनन्तर चतुर्थ श्लोक से दशम श्लोक पर्यन्त न्यायवैशेषिक सिद्धान्तों का विधिवत् विवेचन सरलता से प्रस्तुत किया गया है ।

न्यायवैशेषिक विमर्श में निम्न बिन्दु उद्भावित हैं—

(१) सामान्य और विशेष पदार्थ भेदरहित है ।

(२) वस्तु को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानना तर्कसंगत नहीं है ।

(३) एक, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र और नित्य ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता है ।

(४) धर्म-धर्मी में समवाय सम्भव नहीं बन सकता ।

(५) सत्ता (सामान्य) भिन्न पदार्थ नहीं है ।

(६) ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है ।

(७) आत्मा के बुद्धि आदि गुणों के नाश होने को **मोक्ष** नहीं कहना चाहिए ।

(८) आत्मा सर्वव्यापक नहीं हो सकती है ।

(९) छल, जाति, निग्रहस्थान आदि तत्त्व मोक्ष के कारण नहीं हो सकते ।

• श्लोक संख्या ११ व १२ की टीका में पूर्वमीमांसकों के मौलिक सिद्धान्तों पर विशद विवेचन किया गया है। विषय को सरल बनाने में आचार्यश्री की भाषा एवं हृदयस्पर्शी शैली सुतरां प्रशंसनीय है। यहाँ ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक मानने का आग्रह है क्योंकि ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक न मानने से अनेक दोष सम्भावित हैं।

• श्लोक संख्या १३ की स्याद्वादबोधिनी व्याख्या में अद्वैतवादी वेदान्तदर्शन के द्वारा प्रतिपादित मायावाद का खण्डन है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण विधि-निषेधात्मक रूप से प्रतिपादित है।

• श्लोक १४ की व्याख्या में एकान्त सामान्य तथा एकान्त-विशेष वाच्यवाचक भावना का खण्डन तथा स्यात् सामान्य, स्यात् विशेष वाच्य-वाचक का समर्थन समीचोन शैली में प्रस्तुत कर विषय को बोधगम्य बनाया गया है। यहाँ अन्य द्रव्यार्थिक-नय आदि नयों का विमर्श परिशीलनीय है।

• श्लोक १५ की व्याख्या में सांख्यमत की समीक्षा करते हुए प्रस्तुत किया गया है कि चेतन पुरुष को ज्ञानशून्य मानना नितान्त सिद्धान्तविरुद्ध है। बुद्धि (महत्) को जड़ स्वीकार करना कैसे उचित हो सकता है? अहंकार को आत्मगुण स्वीकार करना चाहिए, बुद्धि का नहीं। इस प्रकार अनेक सांख्यमतों का विमर्श यहाँ गतार्थ हो जाता है।

• श्लोक १५-१९ तक बौद्धदर्शन के मतों की उद्भावना कर युक्तिपूर्वक तार्किक, सैद्धान्तिक विरोध प्रदर्शित किया है। वस्तुतः पदार्थों को एकान्त रूप से क्षणिक (क्षणध्वंसी) न मानकर उन्हें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित स्वीकार करना चाहिए।

• श्लोक २० की टीका में चार्वाक के सिद्धान्तों का सत्तर्क द्वारा खण्डन किया गया है।

• श्लोक २१ से २९ की टीका में स्वपक्ष-समर्थनपूर्वक स्याद्वादसिद्धि की सुदृढ़ अभिव्यक्ति है।

• श्लोक ३०-३२ तक भगवान महावीर की स्तुति तथा अनेकान्तवाद में ही लोकोद्धारक शक्ति है, अनेकान्तवाद/ स्याद्वाद के बिना तत्त्वार्थज्ञान सम्भव नहीं है; यह प्रतिपादित है।

## भाषानुवाद

आचार्यश्री ने भाषानुवाद करते हुए 'स्याद्वादबोधिनी' का अक्षरशः अनुवाद नहीं किया क्योंकि संस्कृत भाषा का प्रवाह तथा टीका की शैली कुछ विलक्षण है। हिन्दी भाषा में मूलार्थ कहने के लिए एक अलग प्रकार की भावसम्प्रेषण कला अपेक्षित है, जो हिन्दी पाठकों को सहज ही बोधगम्य हो। आचार्यश्री ने भाषानुवाद, भावार्थ आदि के माध्यम से गहन दार्शनिक विषय को बोधगम्य बनाने का सफल प्रयास किया है। आवश्यक टिप्पणी भी हितकारिणी है।

भाषानुवाद, भावार्थ-विवेचन की भाषा प्राञ्जल तथा विषय को स्पष्ट करने में सक्षम है। आशा है, तत्त्वजिज्ञासु इस सत् प्रयास से सुगम रीति से अधिगम प्राप्त कर लाभान्वित होंगे। आचार्यप्रवरश्री सुशील सूरीश्वरजी महाराज की यह रचना जैनदर्शन की शोभा है। आपका यह उत्कृष्ट अवदान शतशः अनुमोदनीय एवं प्रशंसनीय है।

यह ग्रन्थरत्न उपादेय, पठनीय, मननीय तथा संग्रहणीय है।

—शिवमस्तु सर्वजगतः।

कुलवन्ती कुञ्ज
१०/४३० नन्दनवन
जोधपुर

विदुषां वशंवदः
**शम्भुदयाल पाण्डेयः**
व्याख्याता-संस्कृत

# * प्रकाशकीय-निवेदन *

कलिकालसर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज** विरचिता **'अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका'** अभिनव **'स्याद्वादबोधिनी'** टीका युक्त प्रकाशित करते हुए हमें अनहद आनन्द हो रहा है ।

**अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका** के मूल बत्तीस श्लोक संस्कृत भाषा में अतीव सुन्दर हैं । उन पर **'स्याद्वाद-बोधिनी'** नाम से समलंकृत अभिनव टीका शास्त्रविशारद - साहित्यरत्न - कविभूषण-परम पूज्य **आचार्य श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी महाराजश्री** ने सरल संस्कृत भाषा में रम्य मनोहर लिखी है । साथ में प्रत्येक श्लोक का अन्वय, श्लोकार्थ तथा भावार्थ भी सरल हिन्दी भाषा में अच्छा लिखा है, जो सबको अच्छी तरह समझ में आ सकेगा ।

**सदुपदेशक, पूज्य वाचक श्री जिनोत्तम विजयजी गणिप्रवर ने** इस ग्रन्थ का **सम्पादन कार्य** भी स्याद्यन्त परिपूर्ण किया है ।

इस ग्रन्थ की विद्वद्भोग्य **प्रस्तावना** का आलेखन **आचार्य श्री शम्भुदयालजी पाण्डेय**, जोधपुर ने किया है। ग्रन्थ के स्वच्छ, शुद्ध एवं निर्दोष प्रकाशन का कार्य **डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी** की देखरेख में सम्पन्न हुआ है। इन सभी का हम हार्दिक आभार मानते हैं।

---

## * प्राप्ति-स्थान *

( १ )

**श्री अष्टापद जैन तीर्थ, सुशील विहार**
वरकाणा रोड, मु० **रानी स्टेशन**
जिला-पाली (राजस्थान)

( २ )

**सुशील सन्देश प्रकाशन मन्दिर**
सुराणा कुटीर, रूपाखान मार्ग,
पुराने बस स्टेण्ड के पास,
मु० सिरोही (राजस्थान)

( ३ )

**श्री सुशील-साहित्य प्रकाशन समिति**
**श्री गुणदयालचन्दजी भण्डारी**
राईकाबाग, जोधपुर

कलिकालसर्वज्ञ-श्रीमद्हेमचन्द्रसूरीश्वरेण

विरचिता

# * अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका *

卐 ॐ ह्रीँ अर्हं नमः 卐

।। अन्तिमशासनाधिपति–श्रीमहावीरस्वामिने नमः ।।

।। अनन्तलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमः ।।

।। श्रीवीरपट्टाम्बरभास्कराय श्रीसुधर्मास्वामिने नमः ।।

।। शासनसम्राट् श्रीनेमि-लावण्य-दक्षसूरीश्वर-सद्गुरुभ्यो नमः ।।

**कलिकालसर्वज्ञ–श्रीमद्हेमचन्द्रसूरीश्वरेण** विरचिता

# 'अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका'

— तस्योपरि —

शासनसम्राट् - श्रीमद्विजयनेमि-लावण्य-दक्ष - सूरीश्वराणां

पट्टधराचार्य **श्रीमद् विजय सुशीलसूरिणा रचिता टीका**

## 卐 स्याद्वादबोधिनी 卐

[ टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम् ]

**अनेकान्तप्रणेतारं, भेत्तारं कर्मकर्कशम् ।**
**राग-द्वेष - विजेतारं, वन्दे वीरं जिनेश्वरम् ।। १ ।।**

**नेमि-लावण्य-दक्षांश्च, सूरीशान् सद्गुरुवरान् ।**
**विद्यामन्दरान् वन्दे, सुशीलोऽहं गुणान्वितान् ।। २ ।।**

**श्रीकलिकालसर्वज्ञैः, हेमचन्द्रैश्चर्चितः ।**
**अन्ययोगव्यवच्छेदः, स्तुतिरूपेण यः पुरा ।। ३ ।।**

**तद्व्याख्या मल्लिषेणेन, सूरिणा मञ्जरी कृता ।**
**सात्यन्तकठिना जाता, विद्वद्भोग्यातिसंकुला ।। ४ ।।**

**अतोऽहं सरलां व्याख्यां, नाम्ना स्याद्वादबोधिनीम् ।**
**बालानाञ्च प्रबोधाय, वितनोमि नवां पराम् ।। ५ ।।**

[ १ ]

# ❊ मूलस्तुति-प्रारम्भः ❊

卐 **मूलश्लोकः–**

**अनन्तविज्ञानमतीतदोष- ,**
**मबाध्य - सिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।**
**श्रीवर्द्धमानं जिनमाप्तमुख्यं ,**
**स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥ १ ॥**

❀ **अन्वयः**–अहम्, अनन्तविज्ञानम्, अतीतदोषम्, अबाध्यसिद्धान्तम्, अमर्त्यपूज्यम्, आप्तमुख्यम्, स्वयम्भुवम्, **श्रीवर्द्धमानं जिनं** स्तोतुं यतिष्ये, इत्यन्वयः ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–अस्मिन् श्लोके पूर्वार्द्धे भगवतः श्रीमहावीरस्य चत्वारि विशेषणानि प्रोक्तानि । तैर्विशेषणैश्चत्वारोऽतिशयाः प्रदर्शिताः । **अनन्तविज्ञानपदेन** मूलतो घातिकर्मक्षयात् केवलज्ञानोदयेन ज्ञानातिशयः, **अतीतदोषविशेषेण**–अष्टादशदोषक्षयाद् अपायापगमातिशयो **अबाध्यसिद्धान्तमिति**–विशेषणेन वचनातिशयः कथ्यते ।

तस्यायं भावः–तद्भाषितः स्याद्वादः कैरपि तार्किकैर्न प्रतिहन्यते । यद्यपि परे कथयन्ति स्याद्वादः संशयवादो यत्र तत्त्वनिश्चयो न भवति । तत्रेदमपि स्यात् प्रयुज्यते

तन्न युक्तम् । नेदं स्यात् पदं संशयद्योतकं क्रियापदम् । अपि तु विभक्ति प्रतिरूपकमव्ययम् । यथा-अहं युः, अस्ति, क्षीरा गौः इत्यादिः । क्रियावाचकत्वे समासो न स्यात् । सर्वत्र सह सुपेत्यधिकारात् सुबन्तेन सह सुबन्तं समस्यते । अतः स्याद् इत्यव्ययमनेकार्थ - वाचकं ज्ञेयम् । न चैकान्तवादेन विश्वव्यवहारः प्रचलति । अतः स्याद्वादः सर्वैरेव स्वीकृतः । केचनाक्षिपन्ति प्रथमविशेषरणेन सर्वं सेत्स्यति, व्यर्थमन्यदिति चेन्न । भिन्नमतानुगामिभिः परिकल्पितमाप्तव्यवच्छेदार्थं परेषां विशेषरणानां सार्थक्यम् ।

अहं श्रीहेमचन्द्राचार्यः अनन्तज्ञानधारिरणं निर्दोष-मनतिक्रमरणीयं स्याद्वादसिद्धान्तसमवेतं देववन्द्यं प्रमुख-यथार्थवक्तारं स्वयं सम्बुद्धं श्रीमन्तं वर्द्धमानं (वीरं-महावीरं) जिनं (राग-द्वेषादि-जेतारम्) स्तोतुम्-स्तुतिविषयीकर्त्तुम् (प्रार्थयितुम्) यतिष्ये-यत्नं करिष्ये ।

## – भाषानुवाद –

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजश्री ने दो द्वात्रिंशिका (बत्तीसी) की संस्कृतभाषा में पद्य में सुन्दर रचना की है, जिनके नाम हैं (१) **अयोगव्यवच्छेदिका** और (२) **अन्ययोगव्यवच्छेदिका** । प्रसिद्ध टीकाकार

आचार्य श्रीमल्लिषेणसूरिजी महाराज ने 'अन्ययोग-व्यवच्छेदिका' की **'स्याद्वादमञ्जरी'** नामक सर्वाङ्गपूर्ण विस्तृत टीका लिखी है, किन्तु सम्प्रति जिज्ञासुओं की कठिनाई को ध्यान में रखते हुए यह सरल एवं संक्षिप्त व्याख्या **'स्याद्वादबोधिनी'** विद्यानुरागियों का महोपकार करेगी।

❀ **श्लोकार्थ**–मैं अनन्तज्ञान-विज्ञान के धारक, दोष-रहित, अबाध्य सिद्धान्त-समन्वित (स्याद्वादयुक्त) देवों के द्वारा वन्दनीय एवं पूजनीय यथार्थवादियों में श्रेष्ठ स्वयम्भू श्रीवर्द्धमानजिनेन्द्र की (महावीरस्वामी की) स्तुति करने का प्रयास करूंगा ॥ १ ॥

卐 **भावार्थ**–प्रस्तुत श्लोक के पूर्वार्ध में श्रीवर्द्धमान-महावीर स्वामी भगवान के चार विशेषण दिये गये हैं। **'अनन्तविज्ञान'** पद से घातिकर्मों के क्षय से समुत्पन्न केवलज्ञान से आलोकित अनन्त ज्ञानातिशय, **'अतीतदोष'** से अठारह दोषों के क्षय से अपायापगम अतिशय, **'अबाध्यसिद्धान्त'** से अनतिक्रमणीय, स्याद्वाद सिद्धान्त की प्ररूपणारूप वचनातिशय तथा **'अमर्त्यपूज्य'** विशेषण से देवेन्द्रादि कृत महाप्रातिहार्य्य रूप पूजातिशय अभिव्यञ्जित होता है।

वस्तुतः, स्याद्वाद सिद्धान्त सभी दार्शनिक मानते हैं। यह सर्वथा अखण्डनीय है। फिर भी कुछ लोग 'स्यात्' पद के प्रयोग के कारण भ्रान्त होकर कहते हैं कि स्याद्वाद **संशयवाद** है, जिसमें कोई निश्चय नहीं होता। किन्तु इस प्रकार का कथन अनुचित है, क्योंकि यहाँ प्रयुक्त 'स्यात्' पद क्रियावाचक पद नहीं है जिससे सम्भावना मात्र अर्थ की प्रतीति होती है, अपितु 'स्यात्' पद विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय पद है। जैसे–अहंयुः, अस्ति, क्षीरा, गौः, इत्यादि। यदि यह क्रियावाचक पद होता तो समास होना सम्भव नहीं। क्योंकि सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है तिङन्त के साथ नहीं। एकान्तवाद से विश्व-जगद्व्यवहार भी सम्भव नहीं।

यहाँ कुछ लोगों का आक्षेप है कि **'अनन्त विज्ञान'** विशेषण से ही सम्पूर्ण गतार्थता सम्भव है, अन्य विशेषण व्यर्थ हैं। किन्तु उनका यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि आजीवक एवं वैशेषिक मतानुगामियों द्वारा प्रदर्शित भ्रान्ति की निवृत्ति के लिए तत्-तत् विशेषणों का उपाख्यान सार्थक है। दूसरे दर्शनों का व्यवच्छेद करना ही अन्ययोगव्यवच्छेदिका का उद्देश्य है।

**टिप्पणी :**

[१] विशेषणसङ्गतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधकः। यथा–शंखः पाण्डुर एवेति। अयोगव्यवच्छेदस्य लक्षणं च–उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वम्।

[२] विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा पार्थ एव धनुर्धरः। अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादि व्यवच्छेदः।

[३] पण्डा तत्त्वानुगा मोक्षे, ज्ञानं विज्ञानमन्यतः।
शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा॥
[अभिधानचिन्तामणिकोष २/२२५]

[४] अन्तराया दान-लाभ-वीर्यभोगोपभोगाः,
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च।
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा,
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी॥
[१/७२-७३ अभिधान चिन्तामणि कोषः]

[५] अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः, दिव्यध्वनिः, चामरे, आसनानि, भामण्डलं, भेरी, छत्रञ्चेति प्रातिहार्यशब्दोऽप्यतिशयवाचक इति ज्ञेयम्।

[ २ ]

अत्र स्तुतिकारस्त्रिजगद्गुरोर्निःशेषगुणस्तुति श्रद्धालुरपि सद्भूतवस्तुवादित्वाख्यं गुणविशेषणमेव वर्णयितुमात्मनोऽभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह-

卐 **मूलश्लोकः-**

**अयं जनो नाथ ! तव स्तवाय ,**
**गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।**
**विगाहतां किन्तु यथार्थवाद-**
**मेकं परीक्षाविधि-दुर्विदग्धः ।। २ ।।**

❀ **अन्वयः**-हे नाथ ! अयं जनः, तव गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुः, एव किन्तु परीक्षाविधि-दुर्विदग्धः, (तव) स्तवाय, एकं यथार्थवादं विगाहताम् । इत्यन्वयः ।।

卐 **स्याद्वादबोधिनी-नाथ**-स्वामिन् ! **अयं** श्रीहेमचन्द्राचार्यः, **तव** जनः सेवकः । अतस्तव भगवतः श्रीमहावीरस्य **गुणान्तरेभ्यः**-अन्ये च ते गुणाः गुणान्तरम् मयूरव्यंसकादित्वात् समासः । तेभ्यः गुणान्तरेभ्यः । त्वयि अनन्ता गुणाः सन्ति । तत्रापि स्पृहयालुः श्रद्धालुरहं तथापि तान् विहाय स्तुतौ अन्यहेतुमाह-परीक्षेति । परीक्षायाः विधिः दुर्विदग्धः विदग्धः पण्डितो विज्ञो दुर्विशेषेण गुणान्तरपरीक्षणेऽतीवनिपुणोऽतस्तान् विहाय एकं

केवलं तव यथार्थवादम्। अर्थान् अनतिक्रम्य इति यथार्थम्–अव्ययीभावसमासः। यथार्थं चासौ वादो यथार्थ-वादः तम् कर्मधारयसमासः! **विगाहतामिति**। गाह् विलोडने यद्यपि विलोडनं विशेषेण नद्यादौ तरणकुशलेऽर्थे तथाप्युपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते' इति न्यायेन तत्रैव परिशील्यतां प्रार्थनायां लोट्।

वस्तुनः लक्षणम्, वसन्ति अनेके धर्माः यत्र तद् वस्तु कथ्यते। वसेस्तुन् प्रत्ययः। पदार्थसार्थेऽनेके धर्माः सन्ति, तथापि नयवादमाश्रित्य परे विद्वांसो नित्यमेव वस्तु कपिलादयः। पर्यायवादमाश्रित्यैकान्तमनित्यम्-इति सौगता-नुयायिनः। प्रमाणवादिना भवता तु स्याद्वादेन-नित्या-नित्यादिमयं प्रतिपादितम्।

नैकेन करेण करताडनं भवति। लौकिको व्यवहारः नैकेन न्यायेन प्रचलति। अतो भवत् कथनं पक्षपात-शून्यम्। तेन यथार्थ वादितामेव स्तौमि। अन्यत्रापि प्रोक्तम्–सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः। स्वभावे परीक्षिते सति परे स्वयमेव परीक्षिता भवन्ति। यथा सूदेन एक एव तण्डुलः परीक्ष्यते न तु सर्वे। अतो बहुश्रुतेन तव भक्तेन मया यथार्थवादितैव स्तुता।

स्तवाय स्पृहयालुरित्यत्र 'स्पृहेरीप्सितः' इति सूत्रेण चतुर्थी न तु तादर्थ्ये। तादर्थ्ये चतुर्थी तु यत्र प्रकृति-विकृतिभावस्तत्र सा विधीयते। यथा-यूपाय दारु, कुण्ड-लाय सुवर्णमित्यादि।

## -भाषानुवाद-

❀ स्तुतिकार आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरीश्वर जी महा-राज त्रिलोकीनाथ श्रीमहावीर स्वामी भगवान के समस्त गुणों के प्रति श्रद्धाभाव रखते हुए भी उनके यथार्थवादिता नामक गुण का ही वर्णन प्रस्तुत करते हैं-

❀ **श्लोकार्थ**-हे स्वामिन्! मैं (हेमचन्द्र) आपके अन्य समस्त गुणों के प्रति श्रद्धा रखते हुए अपने आपको परीक्षा करने में पण्डित समझता हुआ, आपके यथार्थ-वादित्व गुण का ही प्रतिपादन करता हूँ ।। २ ।।

卐 **भावार्थ**-हे नाथ! मैं (हेमचन्द्राचार्य) आपका सेवक, आपके यथार्थवादित्व रूप के अलावा भी आपके अनन्त गुणों के प्रति श्रद्धानत हूँ। **'गुणान्तरेभ्यः'** पद में मयूरव्यंसकादिगण पाठ के अनुसार समास हुआ है। अर्थात्-आपके अन्य गुणों का संकीर्तन भी मुझे अभीष्ट है। अनन्त गुणों का वर्णन छोड़कर **'यथार्थवादित्व'**

गुण प्रस्तुत करने का कारण स्पष्ट करते हुए, आचार्य महाराजश्री ने कहा है–'**परीक्षेति**'।

गुणान्तर परीक्षा में अपने आपको समर्थ पण्डित मानता हुआ (आपके प्रति अनन्य भक्तिभाव होने के कारण) यथार्थवाद नामक गुण का ही प्रतिपादन करता हूँ, क्योंकि इस एक मात्र गुण से अन्य मतों के द्वारा प्रतिपादित अन्य देवताओं से आपका वैशिष्ट्य प्रकट हो जाता है।

'**यथार्थम्**' इस पद में अव्ययीभाव समास (अर्थान् अनतिक्रम्य) है। पश्चात् 'पद:' के सार्थ कर्मधारय समास है। (यथार्थं चासौ वादः)। **गाह् विलोडने** से निष्पन्न '**विगाहन्ताम्**' का अर्थ यद्यपि नदी आदि को तैरने में कुशलता को द्योतित करता है तथापि उपसर्ग से धातु का अर्थ भी बदल जाता है–इस सिद्धान्त के अनुसार प्रार्थना के अर्थ में लोट् लकार मानना चाहिए।

जिसमें अविरोधपूर्वक अनेक धर्म रहते हैं, उसे वस्तु कहते हैं—'वसन्ति अनेके धर्माः यत्र तद् वस्तु कथ्यते' यह भाष्यकार की निर्युक्ति है। वस् + तुन् – पदार्थ में अनेक धर्म विद्यमान रहते हैं, तथापि नयवाद का आश्रय लेकर कुछ विद्वान् कपिलादि उन्हें 'नित्य' कहते हैं। पर्यायवाद

का आश्रय लेकर कुछ सौगतानुयायी एकान्तरूप से अनित्य मानते हैं। प्रमाणवादी (आपके) द्वारा तो अनेकान्तरूप से पदार्थ की सत्ता नित्य, अनित्य, वाच्य, अवाच्य आदि स्थिति में वर्तमान है।

एक हाथ से कभी भी ताली नहीं बजती। लौकिक व्यवहार भी एकान्तवाद से नहीं चलता है। अतः आपका कथन पक्षपात से रहित है और यथार्थवाद के रूप में प्रतिष्ठित है। उसकी मैं स्तुति करता हूँ। कहा भी है कि–सब के स्वभाव की ही परीक्षा की जाती है, अन्य गुणों की नहीं। व्यावहारिक विश्व-जगत् में भी हम देखते हैं कि पाचक (रसोइया) चावल के एक-आध दाने को स्पर्श करके समस्त चावलों की परिपक्वता का ज्ञान करता है। अतः आपके बहुश्रुत अनुपम भक्त सुप्रसिद्ध कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज श्री ने आपको मात्र यथार्थवादिता की स्तुति की है।

**'स्तवाय'** स्पृहयालुः इस पद में 'स्पृहेरीप्सितः' सूत्र से चतुर्थी विभक्ति हुई है। तादर्थ्ये चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग प्रकृति-विकृति-भावात्मक स्थलों पर ही होता है। जैसे-यूपाय दारु (स्तम्भ बनाने के लिए लकड़ी) कुण्डलाय सुवर्णम् = कुण्डल बनाने के लिए सोना ॥२॥

[ ३ ]

अथ येऽत्र शास्त्रान्तर-वासना-वासिताः त्रिभुवनस्वामिनं स्वामित्वेन न प्रतिपन्नाः तानपि तत्त्वविचारणां प्रति शिक्षयन्नाह—

卐 **मूलश्लोकः–**

**गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी ,**
**मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।**
**तथापि संमील्य विलोचनानि ,**
**विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ।। ३ ।।**

❀ **अन्वयः**–अमी परे गुणेषु, असूयाम्, दधतः भवन्तम् ईशम्, मा शिश्रियन् नाम। तथापि, विलोचनानि संमील्य, सत्यं, नयवर्त्म विचारयन्ताम्, इत्यन्वयः ।।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–अमी-'अदसस्तु विप्रकृष्टे' इति नियमेन अमी परेऽन्यमानुगाः, भवतो गुणेषु यथार्थवादिषु असूयाम् = गुणेषु दोषाविष्करणं दधतो बिभ्राणाः, नामेति–प्रसिद्धौ, भवन्तं स्वामिनं मा-न, अशिश्रियन् । स्वामित्वेन नैव स्वीकुर्वन्तु–न स्वीक्रियताम् परैरिति तथापि तान् प्रति ब्रूमो यल्लोचनानि ज्ञाननेत्राणि निमील्य, सत्यं–यथार्थं नयवर्त्म–न्यायमार्गं नीतिराजपथं विचारयन्ताम्–विभावयन्तु ।

**अयं भावः**–न्याय-वेदान्तादिदर्शन-मन्तारो नित्यज्ञानवन्तं केवलमीश्वरं मन्यते न तु वर्द्धमानम्-अस्मदादिवत् कर्मक्षयाज्जन्यज्ञानवन्तम् । अतोऽसौ नैव सर्वेषां स्वामी भवितुमर्हति तथापि यथार्थवादिनं सर्वे परमादरेण मन्यन्ते । भवन्तोऽप्यसूयां विहाय वीतरागो महावीर इति प्रवदन्तु । तदुक्तमनेकान्तवादं मा खण्डयन्तु ।

ननु यदि भगवान् श्रीमहावीरो यथार्थवक्ता तदा प्रार्थनयालम् । तादृशि जनाः स्वयमेवानुरक्ताः भवन्ति । तादृशे भगवते के न स्पृहयन्ति । गुणेषु सर्वे पक्षपातिनो भवन्ति । सत्यम्-पापीयान् दृष्टिवादोऽयं नियमेन सत्यं जानन् अपि न स्वीकुर्वन्ति । अतो भवतो न प्रार्थयामहे-हितमनीषया कथ्यते । यदा कट्वौषधं हितकारिवचसा रोगिणा पीयते तदा तस्यैव लाभः न परस्येति । यथा–धर्मोपदेष्टारो जनसाधारणहितकामनया धर्ममुपदिशन्ति । यः श्रोता श्रुत्वा तथाकरोति तस्यैव लाभो न तूपेक्षकस्य । वक्तृभ्यस्तु एकान्तलाभ एव 'परोपकाराय सतां विभूतयः' 'परोपकारं सफलं गिरन्ति' ।

## – भाषानुवाद –

**श्लोकार्थ**–हे स्वामिन् । यद्यपि आपके गुणों के प्रति ईर्ष्या भाव के कारण दोषदर्शन करने वाले अन्य मतानु-

यायी आपको स्वामी नहीं मानते, तथापि वे लोग सत्य न्याय मार्ग का गम्भीरता से पक्षपात रहित होकर, जरा नेत्र बन्द कर (वैचारिक मुद्रा अपना कर) विचार-विमर्श तो करें।

卐 **भावार्थ**—सत्य-असत्य तथा तत्त्व-अतत्त्व का विचार न करने वाले अन्य मतावलम्बी, आपमें असाधारण गुणों के होने पर भी आपको ईश्वर नहीं मानते क्योंकि वे आपके गुणों के प्रति असूया-भाव रखते हैं। गुणों के विद्यमान रहने पर भी दोषदर्शन करने को 'असूया' कहते हैं—'गुणेषु दोषाविष्करणम् असूया'। इसी प्रकार भगवान की आज्ञा का प्रतिषेध करने वालों के प्रति कलिकालसर्वज्ञ श्री आचार्य महाराजश्री कहते हैं कि—तथापि (आप की आज्ञा को न मानकर भी) वे अन्यमतानुयायी वैचारिक दृष्टि से पूर्वाग्रह त्याग कर नेत्रबन्द कर नीतिराजपथ रूपी 'स्याद्वाद' पर विचार तो करें।

तात्पर्य यह है कि—न्याय और वेदान्तादि दर्शन की वासना से वासित विद्वान् नित्यज्ञानवान को ईश्वर मानते हैं; कर्मक्षय से समुत्पन्न ज्ञान युक्त श्री वर्द्धमान जिनेश्वर को नहीं। अतः इनकी मान्यता है कि वह सबका स्वामी नहीं हो सकता। 'तथापि' पद से आरम्भ करके कलिकाल

सर्वज्ञ श्री आचार्य महाराजश्री ने आग्रह किया है कि वे एकबार पूर्वाग्रह त्याग कर गम्भीरता से इस पर विमर्श तो करें।

सर्वज्ञ विभु श्री महावीर स्वामी भगवान के यथार्थ-वादी होने पर आग्रह या प्रार्थना की, वस्तुतः, कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि गुणों के प्रति सभी सहजरूप से आकृष्ट होते हैं। भला, यथार्थवादी भगवान के प्रति किस का आदर भाव नहीं होगा। अर्थात् सभी का आदर भाव सहज सम्भव है। वस्तुतः यह प्रार्थना नहीं है, अपितु हितोपदेश है। जैसे-कटु औषधि का, रोगी यदि हितकारी व्यक्ति (वैद्य) के वचनानुसार सेवन करता है तो उसी का लाभ होता है; किसी अन्य का नहीं। धर्मोपदेशक जन-साधारण के हित की कामना से उपदेश देते हैं। यदि कोई श्रोता उपदेश को आत्मसात् करके जीवन में क्रियान्वित करता है तो उसी को लाभ होता है, उपेक्षाभाव रखने वाले को नहीं। वक्ता को तो एकान्त लाभ ही है। सज्जनों की विभूतियाँ परोपकार के लिए ही होती हैं। परोपकार करना ही सार्थक है।

---

**टिप्पणी :**

[१] इदमस्तु संनिकृष्टे, समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे, तदिति परोक्षे विजानीयात्॥ ३॥

[ ४ ]

अथ यथावन्नयवर्त्मविचारमेव प्रपञ्चयितुं पराभिप्रेततत्त्वानां प्रामाण्यं निराकुर्वन्नदितस्तावत्काव्यषट्केनौलूक्यमताभिमततत्त्वानि दूषयितुकामस्तदन्तः पातिनौ प्रथमतरं सामान्य-विशेषौ दूषयन्नाह—

**卐 मूलश्लोकः–**

**स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः ,**
**भावाः न भावान्तरनेयरूपाः ।**
**परात्मतत्त्वादतथात्म–तत्त्वाद् ,**
**द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ।। ४ ।।**

❀ **अन्वयः**–भावाः, स्वत एव, अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः, भावान्तरनेयरूपाः न । अकुशलाः परात्मतत्त्वात् अतथात्मतत्त्वात्, द्वयं वदन्तः स्खलन्ति, इत्यन्वयः ।

**卐 स्याद्वादबोधिनी**–भवनं भावः । भावशब्दो घञ् प्रत्ययान्त-भवनक्रिया-कालत्रयावच्छिन्ना, भवन्ति भविष्यन्ति, अभवन् इत्यादि । कालभेदेन शब्दाः भिन्नार्थका भवन्ति । रामो बभूव, भवति, भविष्यति-अत्र वर्त्तमाने लट्, परोक्षे लिट्, भविष्यति लृट् ।

भाष्यकारः-वसन्ति अनेके धर्मा यस्मिन् तद्-वस्तु पदार्थसार्थो वा सर्वे पदार्थाः सामान्यविशेषोभयधर्माणो भवन्ति। नहि निर्विशेषं सामान्यमस्त्यतो भावान्तरं विनैव सर्वे पदार्था एकाकार-प्रतीतिविषया भवन्ति। अयं प्रमाणनयस्य विषयः, नैगमनयो वा। प्रधानीकृत्य वस्तु-विचारे तु सर्वे पदार्थाः द्रव्यतो भिन्नाः भासन्ते। न हि घटः मृतपदेन कथ्यते, मृद्विकाराः मृद्भिन्ना एव भवन्ति। इमं वादं व्यावृत्तिवाच्यम्। व्यावृत्ति-र्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनं क्षणिकवादं पर्यायवादं वा प्रवदन्ति जैनाः सौगता-श्चैतेन पूर्वार्द्धो व्याख्यातः।

वैशेषिक-न्यायनयेन सामान्य-विशेषौ पृथक्-पदार्थौ नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् सामान्यं जातिर्वा। समानानां भावसामान्यं नाना-व्यक्तिषु एकैव जातिः प्रतीयतेऽतो व्याकरणदर्शने 'जातावेकवचनम्' 'द्रोणो व्रीहिः'। नहि एकोव्रीहि द्रोणपरिमाणवान् भवति। अतो न्यायदर्शने धूमत्वेन रूपेण वह्नित्वेन रूपेण सर्वेषां धूमादी-नामुपस्थितौ यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र वह्निनरिति व्याप्तिग्रहो जायते। अन्यथा अधिकरणभेदेन द्वयोर्भेदात् व्याप्तिग्रहो न स्यात्। अतः एकाकारप्रतीतो सामान्यबलेनैव भेदाऽभावः, न तु स्वत इति न्यायविदो मन्यन्ते। नित्य-

द्रव्य-वृत्तयो व्यावर्तकाः विशेषा इति लक्षणम् । विशेषाः अनन्ताः कुतः ? कालादयोऽप्यनन्ता एव । अतस्तन् निष्ठा विशेषाः अनन्ताः, विशेषभेदेन पदार्थाः भिद्यन्ते न तु स्वतः शुक्लादिगुणभेदेन घटपटादयो भिद्यन्ते । अतो भेदकारणं विशेषा एवेति वैशेषिकन्यायविदः ।

कुशलिनो जैनाः, स्याद्वाददर्शन-भावना भाविताः । नैवं मन्यन्ते । भगवता श्रीमहावीरेण सामान्यविशेषभेदः कालादिभेदेन पदार्थे स्वयमेव स्वभावेन स्वीकृतः, न तु परतः । अतः परे न कुशलिनः सामान्येन हेतुना एकाकार-प्रतीति-विशेषपदार्थकारणेन भेदप्रतीतिं स्वीकुर्वन्ति । तेऽ कुशलिनः, तत्त्वविमर्शे परे स्खलन्ति । यः स्खलति स हास्यास्पदं लभते, न तु कुशली । अतो भेदाऽभेदमूलकं विशेष-सामान्यमिति गिरन्त एव स्खलन्ति ।

卐 **भावार्थ—**अब कलिकालसर्वज्ञ आचार्य महाराज श्री नयमार्ग का विचार प्रस्तुत करने के लिए अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य तत्त्वों के प्रामाण्य के निराकरणार्थ छह काव्यों में वैशेषिक मत के तत्त्वों में दूषण बताते हुए सर्वप्रथम 'सामान्य-विशेषः' में दोष प्रदर्शित करते हैं—

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ**–पदार्थ स्वभाव से ही सामान्य-विशेष रूप हैं। उनमें सामान्य-विशेष की प्रतीति कराने के लिए पदार्थान्तर मानने की आवश्यकता नहीं है। अकुशली पर रूप और असत्य रूप (मिथ्यारूप) सामान्य-विशेष को पदार्थ से भिन्नरूप कहते हैं। ऐसा कहने के कारण वे न्यायमार्ग से भ्रष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

卐 **भावार्थ**–भाव शब्द भू + घञ् प्रत्यय से निष्पन्न होता है। आत्मा और पुद्गल आदि पदार्थ अपने स्वरूप से ही अर्थात् सामान्य और विशेष नामक पृथक् पदार्थों की सहायता के बिना ही सामान्य-विशेषरूप होते हैं। एकाकार और एक नाम से कही जाने वाली प्रतीति को अनुवृत्ति अथवा सामान्य कहते हैं। सजातीय और विजातीय पदार्थों से सर्वथा अलग होने वाली प्रतीति को व्यावृत्ति अथवा विशेष कहते हैं। आत्मा और पुद्गल आदि पदार्थ स्वभाव से ही इन दोनों धर्मों से संवलित सामान्य-विशेष होते हैं।

भाव का तात्पर्य वस्तु है। भाष्यकार के अनुसार सभी वस्तुएँ सामान्य-विशेषोभयधर्म संवलित होती हैं। निर्विशेष सामान्य (जाति) की स्थिति सम्भव नहीं है।

अतः पदार्थान्तर के बिना सभी पदार्थ एकाकार प्रतीति के विषय होते हैं।

वैशेषिकों का कथन यह है कि सामान्य, विशेष पदार्थों से भिन्न और परस्पर निरपेक्ष है। यथा-घट में घटत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है तथा नील-पीत-रक्तादि भी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं।

श्री जैनदर्शन अनेकान्त स्वरूप है, अतः सामान्य-विशेष को पदार्थों से एकान्त भिन्न स्वीकार नहीं करता। श्री जैनदर्शन के अनुसार घट में घटत्व तथा नील-पीत-रक्तादि किसी सम्बन्ध विशेष से नहीं रहते, ये स्वयं घट के ही गुण हैं। अतः पदार्थों से सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष नाम के पदार्थों को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है; इस प्रकार वैशेषिक दर्शन की सामान्य-विशेष मान्यता का खण्डन हो जाता है। अकुशली वैशेषिक, उक्तविध सामान्य-विशेष प्रतिपादन के कारण पदे-पदे दोष दशा को प्राप्त होते हैं॥ ४ ॥

---

**टिप्पणी—**

[१] एकाकारा प्रतीतिरेकशब्दवाच्यता अनुवृत्तिः।

[२] सजातीय-विजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदः व्यतिवृत्तिः।

[स्याद्वादमञ्जरी ४/१३]

अथवा अनुवृत्तिः—अन्वयः, व्यतिवृत्तिः—व्यतिरेकः।

[ ५ ]

अथ वैशेषिकैः प्रतिपादितमेकान्त-नित्यमेकान्तमनित्यं दूषयन्नाह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**आदीपमाव्योम-समस्वभावं ,**
**स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।**
**तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यद् ,**
**इति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥ ५ ॥**

❀ **अन्वयः**–आदीपम्, आव्योमम्, समस्वभावम्, (यतो हि किमपि) वस्तु स्याद्वाद-मुद्रानतिभेदि । तत् नित्यम्, एकम्, अन्यद् अनित्यम् इति त्वद् आज्ञाद्विषतां प्रलापाः (सन्तीति) ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–दीपकाद् आरभ्य व्योमपर्यन्तं सर्वं वस्तु सर्वे पदार्थाः नित्याऽनित्यस्वभावाः सन्ति । यतो हि किमपि वस्तु स्याद्वादमर्यादां नोल्लंघयति । एवं सति आकाशो नित्यः, दीपकः सर्वथा अनित्य इत्यादि भगवतो जिनेन्द्रस्य [श्रीमहावीरस्य] आज्ञाद्वेषिणामेव जल्पनेति ।

**आदीपम्**–दीपकादारभ्य, **आव्योम**–आकाश-मर्यादीकृत्य, सर्वं वस्तुस्वरूपं, समस्वभावं-समः तुल्यः, स्वभावः-स्वरूपं यत् तत् तथा। वस्तुनः स्वरूपं तु द्रव्य-पर्यायात्मकम्। अस्मिन् सन्दर्भे पूर्वधर-वाचकप्रवर श्रीउमास्वातिरप्याह–

**'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** [श्रीतत्त्वार्थ सूत्र, पञ्चमाध्याय-सूत्र-२९]। अतः वस्तुसमस्वभावता उत्पत्ति-व्यय-ध्रौव्ययोगात् भवति। एषा स्याद्वादीनृपस्य राजकीयमुद्रा अतः तां किमपि वस्तु नातिक्रामति राजभयात्। तथापि हे प्रभो! त्वदाज्ञाद्विषतां वैशेषिकादीनां आकाशकालादयो नित्या एव, दीपकादिकम् अनित्यमेव क्षयिष्णुत्वात्–इति तत्त्वानभिज्ञत्वे न प्रलापाः न तु परमार्थाः।

**अत्रेदमाकूतम्**–पर्यायरहितं द्रव्यं, द्रव्यरहितः पर्यायो न केनापि क्वापि दृष्टः। द्रव्यरहितं श्रीजैनाः वैशेषिकानां नित्यत्वलक्षणं नैव स्वीकुर्वन्ति वैशेषिकमतानुसारेण। यस्मिन्नुत्पत्तिविनाशौ नैव। तथा-सर्वदैव समः स एव नित्यः। जैनाः नैव स्वीकुर्वन्ति। श्रीजैनमान्यतानुसारेण 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'। अर्थात्–उत्पाद-व्यये सत्यपि पदार्थस्य स्वरूपविनाशाभावः नित्यत्वम्।

कूटस्थनित्यत्वस्वीकारे उत्पत्ति-विनाशौ नैव सम्भवतः। एवं तु उत्पादव्ययाभावे कोऽपि पदार्थः सदिति नैव कथयितुं पार्यते। अतो जैनदर्शनानुसारेण नित्यत्वं नैव कूटस्थं नित्यम्, अपि तु उत्पादव्ययसहितं नित्यम्। आपेक्षिकं नित्यत्वं स्वीकार्यमिति रहस्यम्। द्रव्य-पर्याययोः पार्थक्याभावात्। द्रव्यं परित्यज्य पर्यायो न तिष्ठति। एतावता द्रव्यप्रेक्षया पदार्थस्य नित्यत्वम्, पर्यायापेक्षया अनित्यवयम्। एवं नित्याऽनित्यौ सहधर्मिणौ। अतः आकाशोऽपि नित्याऽनित्यस्वरूपात्मकः।

अन्धकारो नैव तेजसोऽभावरूपः। अपि तु तेजसः पर्यायविशेषः, प्रकाशवत् तमसोऽपि चाक्षुषप्रत्यक्षत्वात्। श्रीजैनमतानुसारेणान्धकारः पौद्गलिकः।

वैशेषिकं प्रति जैनानां प्रश्नोऽयम्–यदि भवन्ता दीपप्रभां पौद्गलिकीं स्वीकुर्वन्ति तर्हि अन्धकारं पौद्गलिकपर्यायस्वीकारे काऽऽपत्तिरिति ? नैव किमपीत्याशयः। पदार्थस्यैकान्तनित्यत्वे, अनित्यत्वे वा स्वीकृते अर्थक्रियाकारित्वं नैव संघटते।

आपेक्षिक नित्याऽनित्यसिद्धान्तं परेऽपि वादिनो दार्शनिकाः स्वीकुर्वन्त्येव। वैशेषिकाः पृथिव्यादि पदार्थान् नित्याऽनित्यान् स्वीकुर्वन्ति।

पातञ्जलयोगदर्शनकारोऽपि नित्यानित्यमेव सर्वं वस्तु प्रपन्नमिति स्वीकरोति। बौद्धाः अपि एकस्मिन् चित्रपटे नीलानीलधर्मौ आमनन्ति। एवं अनेकान्तवाद-स्याद्वादसिद्धान्तः सर्वमान्य एवेति दिक्।

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ**–दीपक से लेकर आकाशपर्यन्त समस्त पदार्थ नित्यानित्य [नित्य-अनित्य] स्वभाव वाले हैं; क्योंकि कोई भी वस्तुस्याद्वाद-सिद्धान्त की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती। ऐसी स्थिति में भी हे देवाधिदेव! आपके विरोधी दीपक आदि को सर्वथा अनित्य तथा आकाशादि को सर्वथा नित्य मानते हैं।

卐 **भावार्थ**–दीपक से आकाश तक सभी वस्तुओं का सम-स्वभाव है। सभी वस्तु-पदार्थ नित्यानित्यस्वभावी हैं। संसार की कोई भी वस्तु-पदार्थ स्याद्वाद-सिद्धान्त की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती; किन्तु वैशेषिकादि दर्शनानुयायी हठवादपूर्वक, हे जिनेश्वर विभो! आपकी स्याद्वादवाणी के विद्वेषी होकर दीपक आदि को सर्वथा अनित्य तथा आकाश आदि को सर्वथा नित्य स्वीकार करते हैं। यह वस्तुतः उनका विद्वेषभावात्मक प्रलाप ही है।

इसी सन्दर्भ में पूर्वधर वाचकप्रवर श्रीउमास्वाति महाराज विरचित श्रीतत्त्वार्थाधिगम सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा है कि–'उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्त सत्'। अर्थात्–'जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (ध्रुवता) से युक्त है, वह सत् पदार्थ है।' इसीलिए प्रत्येक वस्तु-पदार्थ में अनेक नित्य, अनित्यात्मक आदि स्वभाव समरूप से विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में स्याद्वाद सिद्धान्त का लेशमात्र भी क्वचिदपि उल्लंघन नहीं होता। नीतिज्ञ सुशासक की आज्ञा का पालन जैसे–अनुल्लंघनीय होता है, ठीक उसी प्रकार नीति-राज स्याद्वाद-सिद्धान्त की कहीं भी अवहेलना, किसी वस्तु-पदार्थ के स्वभाव में दृष्टिगोचर नहीं होती है। वैशेषिक दर्शनानुयायी जो एकान्त नित्यत्व, एकान्त अनित्यत्व की बात करते हैं, वह तत्त्वार्थ को न जानने के कारण उनका वृथा प्रलापमात्र है।

उक्त बात का रहस्य यह है कि–पर्याय के बिना द्रव्य अथवा द्रव्यरहित पर्याय कहीं भी किसी ने नहीं देखी है। द्रव्यरहित पर्याय तथा पर्यायरहित द्रव्य की स्थिति सम्भव नहीं है। श्रीजैनदार्शनिक वैशेषिकों के सर्वथा नित्यत्व लक्षण को स्वीकार नहीं करते।

वैशेषिकों के अनुसार 'जिसमें उत्पत्ति विनाश न हो, तथा जो सर्वदा सम हो, वह नित्य है।' जैनदार्शनिकों

को यह स्वीकार्य नहीं है। श्रीजैनदर्शन की मान्यता के अनुसार–उत्पाद और व्यय के होते हुए भी पदार्थ के स्वरूप का विनाश नहीं होना ही नित्यत्व है। कूटस्थ नित्यत्व स्वीकार करने पर उत्पत्ति-विनाश की स्थिति होना सम्भव नहीं। अतएव जैनदार्शनिक नित्यत्व को सर्वथा नित्य न मानकर उत्पाद-व्यय सहित नित्य अर्थात्–आपेक्षिक नित्य मानते हैं। द्रव्य की अपेक्षा पदार्थ नित्य है, तथा पर्याय की अपेक्षा अनित्य।

इस तरह द्रव्य में नित्य-अनित्य दोनों धर्म साथ रहते हैं। एतद् द्वारा द्रव्य एवं पर्याय की पृथक्ता का अभाव होने के कारण द्रव्य को छोड़कर पर्याय तथा पर्याय को छोड़कर द्रव्य की स्थिति कदापि सम्भव नहीं है। अतः द्रव्य की अपेक्षा पदार्थ नित्य तथा पर्याय की अपेक्षा अनित्य होता है। यही नित्य और अनित्य की सहधर्मिता है। अतएव आकाश की भी नित्यानित्य स्वरूपात्मकता उक्त रीति से स्वतः सिद्ध है।

वैशेषिकदर्शन के अनुसार अन्धकार तेजस् के अभाव रूप है, किन्तु जैनदार्शनिक को यह अभीष्ट नहीं है। तेजस् का पर्यायविशेष अन्धकार है, क्योंकि–अन्धकार का प्रत्यक्ष भी प्रकाश की भाँति चक्षु इन्द्रिय से होता है।

श्रीजैन मान्यता के अनुसार अन्धकार पौद्‌गलिक है। वैशेषिकों के प्रति श्रीजैनदार्शनिकों का कहना है कि, यदि आप दीपप्रभा को पौद्‌गलिक मानते हैं तो अन्धकार को पौद्‌गलिक मानने में क्या आपत्ति है? अर्थात् सहर्ष आपको स्वीकार करना चाहिए। पदार्थ को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य मानने पर अर्थक्रिया-कारिता भी घटित नहीं हो सकती। वस्तुतः, आपेक्षिक नित्य-अनित्य सिद्धान्त को अन्य दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं, किन्तु स्याद्वाद-सिद्धान्त के नाम से नहीं। वैशेषिक भी पृथ्वी आदि पदार्थों को परमाणु रूप से नित्य तथा कार्यरूप से अनित्य मानते हैं। पातञ्जलयोगदर्शन में सभी वस्तुओं की नित्यानित्यधर्मिता स्वीकार की गई है– 'धर्मी का परिणाम धर्म, लक्षण और अवस्था के भेद से तीन प्रकार का है।'

बौद्धदर्शन भी एक ही चित्रपट में नील-अनील धर्मों को मानता है।

इस प्रकार अनेकान्तवाद-स्याद्वाद सिद्धान्त सर्वमान्य सिद्धान्त है॥ ५॥

[ ६ ]

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगमं मिथ्याभिनिवेशरूपं निरूपयन्नाह–

卐 **मूल श्लोकः–**

**कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः,**
**स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।**
**इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युः,**
**तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ।। ६ ।।**

**अन्वय**–[हे नाथ ! ये, अप्रामाणिकाः] जगतः कश्चित् कर्त्ता अस्ति । (१) स च एकः, (२) सर्वगः, (३) स्ववशः, (४) सनित्यः । तेषाम्, इमाः कुहेवाकविडम्बनाः, न स्युः येषाम्, त्वम् अनुशासकः (अस्ति) ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–परे दार्शनिकाः (वैशेषिकाः) इन्द्रियातीतमपीश्वरं कार्यात् कारणमनुमीयते इति न्यायेन दृश्यं जगत् प्रेक्ष्य विश्वकर्त्तारं परमात्मानं तर्कयन्ति-कश्चन जगतः=संसारस्य कर्त्ता अस्ति कार्यत्वात् । यद्-यद् कार्यं तत्-तत् कर्तृजन्यम् इति व्याप्तेः । यथा–घटकर्त्ता कुम्भकारः । नहि वयं विशालस्य त्रिभुवनस्य कर्त्तारः । अपरोक्षज्ञानचिकीर्षा कृतिमत्त्वं कर्त्तृत्वमिति लक्षणम् ।

न हि परमाणवोऽस्माकं नयनगोचराः। स चैकः, अनेकत्वे कार्ये वैषम्यं स्यात्। स सर्वगः=सर्वज्ञः, असर्वज्ञत्वे विशालविश्वकर्तृत्वं न घटते। स च स्ववशः=स्वतन्त्रः, पराधीनत्वे स्वरुचा कार्यं न जायते। स्वामिनोऽनुरूपमेव कार्यं भवति। स नित्य=अविनाशी; यः स्वयं नश्वरः स विश्वरचनां कर्त्तुं कथं क्षमेत ? एतद्विशेषणविशिष्टः कर्त्तुमकर्तुम् अन्यथा कर्त्तुं समर्थ ईश्वरोऽस्ति। तान् आचार्यः स्वकीयामुदारतां प्रदर्शयन्नाह–इमाः कल्पनाः **कुहेवाक विडम्बनाः स्युः**। हेवाकाः=वृथा कल्पनाः। कुत्सिताश्च ताः हेवाकाः ता एव विडम्बनाः पराभव-स्थानानि स्युः। जगति-अनुचितकल्पनाकारिणः पराभव-पदं लभन्ते। अदृष्टे वस्तुनि जलताड़नादिवत् वृथा प्रयासो न विधेय इत्याशयः।

जगति सर्वे पदार्थः परिणमनस्वभावाः। अतः परमाणवः क्रमेण परिणमन्तो विश्वरूपं स्युः। तदर्थ-मीश्वरकल्पना न कार्याः जैनाः मीमांसका कर्मवादिनः एवं मन्यन्ते कर्माणि एव जगद्रचयन्ति। यतः ईश्वरो न कर्त्ता। अनेकानि भवनानि एकरूपाणि अनेक शिल्पिनः कुर्वन्ति। अतः ईश्वरे एकत्वकल्पनमयुक्तम्। वैशे-षिकाभिमतः ईश्वरो न सर्वज्ञः तथात्वे भिन्नस्वभावान्

निन्दकान् कथं जनयेत् ? मन्दोऽपि स्वविरोधिनं न जनयति । अतो नाऽसौ सर्वज्ञः । तस्मिन्नास्ति स्ववशत्वमपि-कर्मानुरूपमेव सुख-दुःखदर्शनात् । अन्यथा तथा सति जगति विषमता न स्यात् । विषमता तु जगति सर्वत्र दृश्यते । तस्मिन् नित्यत्वमपि न घटते । किं नित्यत्वम् ? कूटस्थम् - अविचलरूपम् एकस्वरूपम् । कर्त्तारि सदैव परिणतिर्दृश्यते । एतावता जगतः कर्त्ता ईश्वरो नास्तीति प्रोक्तम् ।

**अयं भावः** (१) जगतः कर्त्ता अस्ति (२) स एकः (३) स सर्वगः (४) स स्वतन्त्रः (५) सनित्यः, इति पञ्चानामपि खण्डनं श्रीजैनमान्यतानुसारेण क्रमशश्चेत्थम्—

**जगतः कर्त्ता**—वैशेषिकाः कथयन्ति यद् यद् कार्यं तत् तत् केनापि बुद्धिमत्ता कर्त्ताजन्यम्, यथा—गृहम् । पृथिव्यादीन्यपि कार्याणि, अतः केनापि कर्त्ता जन्यानि । यः खलु न कर्त्ताजन्यं न तत् कार्यम् । यथा—आकाशः । अत्र जैनमतम्—उक्तं वैशेषिकैः न समीचीनम् । प्रत्यक्षानुमानबाधितत्वात्, पृथ्व्यादेः कर्तृत्वादर्शनात् । घटदृष्टान्तोऽपि विषमः, घटादिकं सशरादिणा कर्त्रा जन्यम्, ईश्वरस्य सशरीरत्व स्वीकारे अन्योन्याश्रयदोषः स्यात् ।

(१) **सः एकः–वैशेषिकाः** कथयन्ति-ईश्वरः - एकस्य ईश्वरानेकत्वस्वीकारे समानता क्रमता च न सिद्धयेत। **जैनाः** मान्यतैषानैकान्त सत्या। अनेकमधुमक्षिकाभिः एकस्मिन् छत्रे एकाविधमेव मधुस्थापनात्। तन्तानेक-प्रयाससत्वेऽपि क्रमतैकरूपतयो विद्यमानत्वात्।

(२) **स सर्वगः**–ईश्वरः सर्वव्यापी, सर्वज्ञः इति वैशे-षिका आमनन्ति। सर्वव्यापित्वे सति प्रमेयपदार्थानां न किमपि स्थानम्। ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वमपि केनापि प्रमाणेन नैव सिद्धयति। यतो हि स्वयं सर्वज्ञत्वाभावात् वयमीश्वरं साक्षात्कर्त्तुमसमर्थाः। सर्वज्ञत्वं विना जगतो वैचित्र्यं न स्याद् इति। जगद्-वैचित्र्यव्याप्तिः सर्वज्ञत्वेन सह नास्ति। आगमप्रमाणेनापि वयं सर्वज्ञं ज्ञातुमसमर्थाः। वेदागमयोः पौर्वापर्यविरोधात्।

(३) **स स्ववशः**–वैशेषिकाः स्वीकुर्वन्ति – ईश्वरः स्ववशः=स्वाधीनः। जैनाः कथयन्ति–ईश्वरः स्वतन्त्र-श्चेत् दुःखपरिपूर्णं संसारं कथं रचयति? अन्यथा ईश्वरः, निर्दयः क्रूरश्च स्यात्। यदि प्राणिनामदृष्टबलेन (भाग्येन) जीवाः सुखिनो दुःखिनो भवन्तीति स्वीक्रियते, तदा कर्मप्रधानसृष्टिः स्वीकार्या। ईश्वरस्य कर्तृत्वं नैव स्वीकार्यम्। आवश्यकता विरहात्।

(४) **स नित्यः**–ईश्वरो नित्य इति वैशेषिकाः स्वीकुर्वन्ति । जैनाः कथयन्ति, भवद्भिः ईश्वरः सततं क्रियाशीलोऽक्रियाशीलो वा स्वीकृतः ? तस्य सतत क्रियाशीलत्वे किमपि कार्यं न समाप्येत । अक्रियाशीलत्वे जगतो निर्माता नैश्वरः स्यादिति ।

**– भाषानुवाद –**

❀ **श्लोकार्थ**–सम्प्रति वैशेषिकों द्वारा मान्य ईश्वर के जगत्कर्तृत्वपक्ष में बताते हुए कहा है कि–हे नाथ ! जो अप्रामाणिक दार्शनिक 'कोई जगत् का कर्त्ता है–वह एक है, सर्वव्यापी (सर्वज्ञ) है, स्वतन्त्र है और नित्य है' इत्यादि दुराग्रहपूर्ण सिद्धान्त स्वीकार करते हैं, उनके आप अनुशास्ता नहीं हो सकते ।

卐 **भावार्थ**–अन्य दार्शनिक (वैशेषिक) इन्द्रियज्ञानातीत (प्रत्यक्षप्रमाण से रहित) ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हैं । अपनी मान्यता में वे कार्य से कारण का अनुमान करते हैं । जगत् कार्य है अतः इसका कोई कर्त्ता अवश्य है, क्योंकि प्रत्येक कार्य कर्त्ता के द्वारा समुद्भावित होता है–यह व्याप्तिज्ञान प्रतिष्ठित है । जैसे–घड़े का कर्त्ता कुम्हार । हम विशाल जगत् के कर्त्ता नहीं हो सकते । परमाणु, हमारी दृष्टि के विषय नहीं

हैं। वह विश्व-रचयिता एक है क्योंकि अनेक होने पर कार्य में विषमता सम्भव है। वह सर्वव्यापी सर्वज्ञ है क्योंकि असर्वज्ञत्व स्थिति में त्रिभुवन-कर्तृत्व सम्भव नहीं है। वह स्वतन्त्र है, क्योंकि पराधीन होने पर अपनी रुचि के अनुसार कार्य करना सम्भव नहीं होता।

स्वामी की आज्ञा के अनुरूप कार्य होता है। वह अविनाशी (नित्य) है क्योंकि जो स्वयं विनश्वर हो वह विश्व-जगत् की संरचना कैसे कर सकता है? इन (उक्त) विशेषणों से समन्वित विश्व-जगत् की रचना करने-न करने तथा अन्यथा (मिटाने) करने में समर्थ ईश्वर है।

उक्त प्रकार की मान्यता रखने वालों के प्रति कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी म. श्री ने कहा है कि–'कुहेवाकविडम्बनाः।' 'हेवाक' शब्द का अर्थ है–वृथा कल्पना। **'कुत्सिताश्च ताः हेवाकाः ता एव विडम्बनाः'**–यह समास प्रकार है। संसार में अनुचित कल्पना करने वाले स्वयं परास्त (पराभूत) होते हैं। अप्रत्यक्ष वस्तु के प्रति जलताड़नादि क्रिया के समान व्यर्थ प्रयास नहीं करना चाहिए।

संसार के समस्त पदार्थ परिणामी हैं। अतः परमाणु ही क्रमशः परिणामी होकर विश्व रूप की संरचना करते हैं। जैन कर्मवादी हैं। यह स्वीकार्य है कि कर्म विश्व-जगत् की रचना करते हैं। अतः ईश्वर विश्व का यानी जगत् का कर्त्ता नहीं है। अनेक शिल्पी अनेक भवनों को एक सा बनाते हैं, यह प्रत्यक्षसिद्ध है।

अतः ईश्वर के विषय में एक होने की कल्पना भी ठीक नहीं है। यदि वह एक है तो 'वह' भिन्न स्वभाव वालों को (प्रशंसक, निंदक) क्यों बनाता है। मूर्ख भी अपने विरोधी को उत्पन्न नहीं करता। अतः यह भी सिद्ध है–वह 'सर्वज्ञ' भी नहीं हो सकता।

कर्मों के अनुसार सुखी, दुःखी लोगों को देखने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, वह स्वतन्त्र (स्ववशः) भी नहीं है। यदि ऐसा होता तो संसार में विषमता नहीं होती; जबकि संसार में सर्वत्र विषमता दिखाई देती है।

'नित्यत्व' भी उसका समीचीन लक्षण नहीं है, क्योंकि नित्यत्व-कूटस्थ-अविचल रूप होता है। कर्त्ता में तो परिणाम परिणति (परिवर्तन) देखे जाते हैं। अतः विश्व-जगत् का कर्त्ता ईश्वर नहीं है, ऐसा कहा है।

तात्पर्यार्थ कथन यह है कि–(१) 'ईश्वर' जगत् का कर्त्ता है, (२) वह एक है, (३) सर्वव्यापी सर्वज्ञ है, (४) स्वतन्त्र है और (५) नित्य है। इस प्रकार की वैशेषिक मान्यता का श्रीजैन मतानुसार क्रमशः खण्डन इस प्रकार है–

(१) **'ईश्वर' जगत् का कर्त्ता है**—वैशेषिक मानते हैं कि संसार में जो-जो कार्य हैं वे किसी-न-किसी बुद्धिमान् कर्त्ता के द्वारा अवश्य किये गये हैं। जैसे–भवन इत्यादि। पृथ्वी आदि भी कार्य हैं तथा इनको भी किसी कर्त्ता ने बनाया है, क्योंकि जो कार्य नहीं है वह किसी कर्त्ता के द्वारा भी नहीं बनाया गया है। जैसे–आकाश।

**जैनमत** यह है कि वैशेषिकों की मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमान, प्रत्यक्ष से बाधित है। हमें पृथ्वी आदि का कोई कर्त्ता नयनगोचर नहीं होता। घट या गृह का दृष्टान्त विषम है, क्योंकि घट-भवनादि कार्य सशरीर कर्त्ता के ही बनाये हुए दृष्टिगोचर होते हैं तथा ईश्वर अशरीरी कर्त्ता माना गया है। ईश्वर को सशरीर मानने पर अन्योन्याश्रय आदि अनेक दोष सम्भव हैं।

(२) **ईश्वर एक है**—वैशेषिक मान्यता है कि ईश्वर एक है, अनेक ईश्वर होने पर जगत् में एकरूपता तथा क्रमता नहीं हो सकती।

**जैनमान्यता** के अनुसार—यह मान्यता, एकान्तरूप से सत्य नहीं है क्योंकि शहद के छत्ते आदि पदार्थों को अनेक मधुमक्खियाँ बनाती हैं, तथापि छत्ते में क्रमिकता एवं एकरूपता दृष्टिगोचर होती है।

(३) **ईश्वर सर्वव्यापी सर्वज्ञ है**—यह वैशेषिक मान्यता भी **श्रीजैनमतानुसार** समीचीन नहीं है, क्योंकि ईश्वर के सर्वव्यापी होने पर प्रमेय पदार्थों के लिए कोई स्थान न रह सकेगा। ईश्वर का सर्वज्ञत्व भी किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं सर्वज्ञत्व प्राप्त किये बिना हम प्रत्यक्ष से ईश्वर का साक्षात् (प्रत्यक्ष) नहीं कर सकते। अनुमान से भी हम ईश्वर को नहीं जान सकते क्योंकि वह दूर है। अतः सर्वज्ञत्व से सम्बद्ध किसी हेतु द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता। 'सर्वज्ञत्व' के बिना विश्व-जगत् की विचित्र संरचना सम्भव नहीं हो सकती। इस अर्थापत्तिप्रमाण से भी ईश्वर का सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि विश्व-जगत् की विचित्रता की व्याप्ति सर्वज्ञत्व के साथ नहीं है।

आगमप्रमाण से भी सर्वज्ञ को जानना सम्भव नहीं है क्योंकि वेद आदि शास्त्रों-आगमों में पूर्वापर विरोध दोष परिलक्षित है।

(४) **ईश्वर स्वतन्त्र है**—वैशेषिकदर्शन की ईश्वर स्वातन्त्र्य सम्बन्धी अवधारणा भी श्रीजैनमतानुसार निर्मूल है। स्वतन्त्र ईश्वर दुःखों से परिपूर्ण विश्व की रचना क्यों करता है? यदि ऐसा है तो ईश्वर क्रूर या निर्दय कहा जाना चाहिए। यदि प्राणियों के अदृष्ट बल या कर्मों के अनुसार ही ईश्वर सुख-दुःख प्रदान करता है तो सृष्टि को कर्मप्रधान ही मानना चाहिए। ईश्वर को कर्त्ता मानने की आवश्यकता नहीं है।

(५) **ईश्वर नित्य है**–वैशेषिक प्रतिपादित ईश्वर की नित्यता भी संदिग्ध है। जैनमत का प्रश्न है कि सर्वथा नित्य माने जाने वाले ईश्वर को सतत कार्यशील मानने पर किसी कार्य की समाप्ति ही सम्भव नहीं होगी। अक्रियाशील मानने पर ईश्वर जगत् का निर्माता नहीं हो सकता। अतः ईश्वर को विश्व-जगत् का रचयिता मानना किसी प्रकार भी युक्तिसंगत नहीं है॥ ६॥

[ ७ ]

अथ चैतन्यादयो रूपादयश्च धर्माः आत्मादेर्घटादेश्च धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवायसम्बन्धेन संबद्धाः सन्तो धर्मधर्मिव्यपदेशमश्नुवते तन्मतं दूषयन्नाह–

**卐 मूलश्लोकः–**

**न धर्म - धर्मित्वमतीवभेदे ,**
**वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।**
**इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ ,**
**न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ।। ७ ।।**

❀ **अन्वयः**–(धर्म-धर्मिणोः) अतीवभेदे धर्मधर्मित्वम्, न वृत्या, अस्ति इति चेत् त्रितयं न चकास्ति । इह च वृत्तौ इदम् इति मतिः अस्ति (चेत्) गौणभेदः अपि च लोकबाधः ।। ७ ।।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–परे धर्म - धर्मिणोर्नितरां भेदं स्वीकुर्वन्ति, तन्मतं निरस्यत्याचार्यः । धर्मः अस्ति अस्मिन् इति धर्मी धर्मश्च धर्मी चेति धर्मधर्मी तयोर्भावः धर्म-धर्मित्वम् । पूर्वं द्वन्द्वं विधाय पश्चात् त्व प्रत्ययः । वैशेषिकमते नित्यः सम्बन्धः समवायः स चैकः । केषां स भवति ? गुण-गुणिनोः, जाति-व्यक्त्योः, अवयवा-

वायतिनोः, क्रियाक्रियावन्तोः, नित्यपदानामिति। जैन-मते स्वस्वरूपतामेव सम्भवति न हि विरूपवताम्। समवायस्य नित्यत्वमेकत्वमपि नास्ति। यथा–नित्यश्चैक आकाशः सर्वान् प्रदेशान् व्याप्नोति तथा भवदीयः समवायः कुतो न युगपद् व्याप्नोति तस्मान्नैको नित्यश्चेति यथा पूर्वपक्षी व्याप्तिः सदोषा तथैव सर्वापि परिकल्पना सदोषा। ननु गुणादागतो गौणः गुणमूलकोऽपि भेदो दृश्यतेऽतः तमाश्रित्य धर्मधर्मिणो भेदव्यवहारः। तल्लक्षणं चेदम्–

अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्चेति। मुख्योऽव्यभिचारी भवति। अविकलः एकमात्रवृत्तिः। असाधारणोऽन्तरङ्गः न तु बाह्यः। तद्भिन्न एव गौणः, धर्मधर्मिणोर्मुख्यता एव दृश्यते, न तु गौणता। धर्माः, धर्मिणं न व्यभिचरन्ति। तस्मात् वैशेषिकदर्शनाभिमतो भेदो निरस्तः।

**अयं भावः**–वैशेषिकाः धर्मधर्मिणौ सर्वथा भिन्नाविति स्वीकुर्वन्ति। एतयोर्द्वयोर्भिन्नपदार्थयोः समवायेन सम्बन्धो भवति। जैनाः कथयन्ति यत् यथा द्वयोः पाषाणखण्डयोः योज़कः स्निग्धः कश्चित् पदार्थः (लेपः) अस्माभिः साक्षात् दृश्यते न तथा समवायसम्बन्धः। अतः

धर्मधर्मिभ्यां भिन्नः समवायसम्बन्धः प्रत्यक्षज्ञानविरुद्धः। अन्यच्च वैशेषिकाः समवायमेकं नित्यं सर्वव्यापकञ्च स्वीकुर्वन्ति। एवं सति एकस्मात् पदार्थादपगते समवाये-सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यस्तस्य अपायः स्यात्। अर्थात्–सर्वेषु पदार्थेषु स्थितः समवायो विनश्येत। यतो हि एकः सर्वव्यापकश्चेति। वैशेषिकाः 'एतेषु तन्तुषु पटः शाखायां वृक्षः' इत्यादिभिः समवायसम्बन्धः परिचिन्वति। किन्तु पटे पटत्वं समवायेन स्वीकुर्वन्ति। तन्न युक्तियुक्तम्। यदि ते सर्वत्र समवायं स्वीकुर्वन्ति तदा समवायेऽपि समवायान्तरं कथं नैव स्वीकुर्वन्ति ? अनवस्थादोषभयात्। यदि वैशेषिकाः पृथिवीत्वात् पृथिवीत्यादौ पृथिव्यां पृथिवीत्वं मुख्यसमवाय-सम्बन्धेन, तथा समवायस्यैकत्वात् समवाये समवायत्वं गौणसमवायेन मत्वा मुख्य-गौणभेदेन समवायसम्बन्धमङ्गीकुर्वन्ति चेत् तदापि कल्पनामात्रम्। न चेदं व्यावहारिकं तात्त्विकं वेति॥ ७॥

चैतन्य तथा रूप आदि धर्म, आत्मा तथा घट इत्यादि धर्मियों से सर्वथा भिन्न है। तथा धर्म-धर्मी का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध से होता है। इस प्रकार की वैशेषिक-दर्शन की मान्यता को सदोष प्रतिपादित करते हुए पूज्य कलिकालसर्वज्ञ आचार्य महाराजश्री कहते हैं कि–'न धर्मधर्मित्वमिति'।

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ**–धर्म और धर्मी को सर्वथा भिन्न स्वीकार करने पर 'अयं धर्मी'='यह धर्मी है' 'ये इस धर्मी के धर्म हैं' और 'धर्म-धर्मी' में सम्बन्ध व्यक्त करने वाला समवाय है।' इस प्रकार के पृथक्-पृथक् तीन ज्ञान नहीं हो सकते।

卐 **भावार्थ**–यदि परस्पर भिन्न धर्म और धर्मी का समवाय सम्बन्ध से सम्बन्ध मानते हैं तो यह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि धर्म तथा धर्मी के ज्ञान की भाँति हमें समवाय का ज्ञान नहीं होता। अर्थात्–समवाय का प्रत्यक्ष ज्ञानाभाव है। यदि एक समवाय को मुख्य तथा समवाय में समवायत्व को गौण मानकर निर्वाह करना चाहें तो भी यह कपोल कल्पना लोकव्यवहार के सर्वथा विरुद्ध है।

वैशेषिक दर्शनानुयायी धर्म-धर्मी में एकान्त भेद मानते हैं तथा परस्पर भिन्न धर्म-धर्मी में सम्बन्धाधायक 'समवाय' नामक सम्बन्ध को पृथक् से मानते हैं। यह समवाय नामक सम्बन्ध, एक तथा नित्य होता है। यह समवाय सम्बन्ध उनके मतानुसार (वैशेषिक) जाति-व्यक्ति में, गुण-गुणी में, क्रिया-क्रियावान् में नित्य रूप से विद्यमान

रहता है। श्री जैनदार्शनिक इसे स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि स्वरूपियों का सम्बन्ध होता है, विरूपवालों का नहीं। समवाय सम्बन्ध की एकता तथा नित्यता युक्तिसंगत नहीं है। जैसे–वैशेषिक दर्शनानुसार ग्राकाश नित्य तथा एक होता हुग्रा व्याप्त है, उस प्रकार समवाय की प्रतीति नहीं होती। जैसे–पूर्वपक्षी व्याप्ति सदोष है, वैसे ही सारी परिकल्पना सदोष है।

यदि कहें कि, एक समवाय को मुख्यतया तथा समवाय में समवायत्व को गौण मानकर निर्वाह करेंगे तो भी यह कपोल कल्पना व्यावहारिक धरातल पर खरी नहीं उतरती है। ग्रतः लोकविरोध ग्राता है।

समवाय सम्बन्ध के सन्दर्भ में वैशेषिकों के प्रति श्रीजैनदर्शन-जैनमत का कथन है कि जिस प्रकार दो पाषाण खण्डों को जोड़ने के लिए कोई स्निग्ध पदार्थ (प्राचीन काल में लाख ग्रादि तथा वर्तमान क्विकफिक्स इत्यादि ग्रनेक वज्रलेप) प्रत्यक्ष ज्ञानगम्य होता है; उसी प्रकार धर्म-धर्मी को जोड़ने वाला '**समवाय**' प्रत्यक्षगम्य नहीं होता है। ग्रतः समवाय, प्रत्यक्षज्ञान से बाधित है। समवाय की एकता, नित्यता तथा सर्वव्यापकता भी सम्भव नहीं है, क्योंकि एक पदार्थ में

समवाय के विनष्ट होने पर संसार के समस्त पदार्थों में समवाय विनष्ट होना चाहिए; क्योंकि समवाय आपके मत में एक तथा सर्वव्यापक है। वैशेषिक का यह कथन कि 'तन्तुओं में पट है', 'शाखाओं में वृक्ष है' यह भी लोक-विरुद्ध है; क्योंकि पट में तन्तु हैं (कपड़े में धागे हैं) वृक्ष में शाखायें हैं–सर्व सामान्य को यही बोध होता है। अतः धर्म-धर्मी में समवाय सम्बन्ध की कल्पना ठीक नहीं है। साथ ही धर्म एवं धर्मी में अत्यन्त भेद मानना भी युक्तिसंगत नहीं है ॥ ७ ॥

[ ८ ]

अथ सत्ताभिधानं पदार्थान्तरम्, आत्मनश्च व्यतिरिक्तं ज्ञानाख्यं गुणम्, आत्म-विशेषगुणोच्छेदस्वरूपां च मुक्तिम्, अज्ञानादङ्गीकृतवतः परानुपहसन्नाह–

**卐 मूलश्लोकः–**

**सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता,**
**चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत् ।**
**न संविदानन्दमयी च मुक्तिः,**
**सुसूत्रमासूत्रित - मत्वदीयैः ॥ ८ ॥**

❀ **अन्वयः**–सताम् अपि सत्ता क्वचित् एव। आत्मनः अन्यत् औपाधिकं चैतन्यं। मुक्तिः संविद् आनन्दमयी न (इति) अत्वदीयैः सुसूत्रम् आसूत्रितम्।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–सतो भावः सत्ता सा श्रीजैनमते सर्वत्र वर्त्तते । सर्वे पदार्थाः सद्रूपाः । वैशेषिक-न्यायनये द्विधा सत्ता प्रोक्ता परापरभेदात् । परा तु अधिदेशवर्त्तिनी । सापि नैव सर्वत्र ।

वैशेषिकाः द्रव्य-गुण - कर्म-सामान्य - विशेषान् षट् पदार्थान् तत्त्वतया स्वीकुर्वन्ति । तत्र 'पृथ्व्यापस्तेजोवायुराकाशः कालो दिगात्मा मनः' इति नवद्रव्याणि । अन्यच्च चतुर्विंशतिगुणास्तद् यथा–'रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाणानि पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-ऽपरत्व-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नाश्चेति सप्तदश । चकारेण समुदिताश्च सप्त द्रवत्व-गुरुत्व-संस्कार-स्नेह-धर्माऽधर्म-शब्दाश्चेत्येवं चतुर्विंशति गुणाः । संस्कारस्य वेगभावना-स्थिति-स्थापकभेदात् त्रैविध्येऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वात्, शौर्य-औदार्यादीनां चात्रैवान्तर्भावान् नाधिक्यम् । पञ्चकर्माणि, तद् यथा–उत्क्षेपणाऽवक्षेपणाऽऽकुञ्चन-प्रसारण-गमनानि ।

वैशेषिकमतेन 'द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते । सा सत्ता परसामान्यं महासामान्यं वा कथ्यते । द्रव्य-गुणकर्मेषु सा सत्ता । न च सामान्य-विशेषसमवायेषु । यद्यपि द्रव्यादिषु षट्स्वपि पदार्थेष्वास्तित्वमस्ति तथापि सा

जातिः (महासामान्यम्) सामान्यादिषु त्रिष्वनुवृत्तिप्रत्यय-हेतुर्नास्ति । द्रव्य-गुण-कर्मस्त्वस्ति ।

सामान्य - विशेष - समवायेषु सत्तासम्बन्ध-स्वीकारे क्रमशोऽनवस्था-रूपहानि-असम्बन्ध दोषाः स्युः । एतावता द्रव्यादिषु त्रिष्वेव सत्ता स्वीकार्या न तु सामान्यादिषु । सत्ता, द्रव्य-गुण-कर्मभ्योऽर्थान्तरम् । चैतन्यं चेतनं ज्ञानं तस्य भावश्चैतन्यम् । न्यायनये चैतन्यं ज्ञानम् आत्मगुणः न तु आत्मरूपम् । अतो ज्ञानाश्रयत्वमात्मा तैः स्वीकृतः । न तु आत्मा जड़रूपः–ज्ञानाधिकरणम् आत्मनो हि लक्षणम् । औपाधित्वं समवायसम्बन्धेन सम्बन्धित्वम् किन्तु मुक्तौ आत्मविशिष्टगुणानामुच्छेदः । श्रीजैनदर्शने ज्ञानस्वरूपम् आत्मा इति लक्षणम् । अतो श्रीजैनमते मुक्तिरनन्तज्ञानमयी, आनन्दमयी ज्ञानशून्यत्वे आत्मनो जडत्वापत्तिः ।। ८ ।।

'सत्ता' पृथक् पदार्थ है । आत्मा से ज्ञान अतिरिक्त है, अर्थात् भिन्न है । आत्मा के विशिष्ट गुणों का उच्छेद होना मोक्ष है । इस प्रकार मान्यता रखने वालों के प्रति श्रीजैनदर्शनानुसारी वक्तव्य प्रस्तुत करते हुए कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजश्री कहते हैं कि–'**एतामपि स्यादिति**' ।

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ**–समस्त सत् पदार्थों में सत्ता नहीं होती। ज्ञान, उपाधिजन्य है। अतः ज्ञान आत्मा से भिन्न है। मोक्ष, ज्ञानरूप एवं आनन्दरूप नहीं है। इस प्रकार की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि रखने वाले वैशेषिक दर्शन के शास्त्र, हे वीतराग विभो! आपके आज्ञाक्षेत्र में रहकर नहीं रचे गये हैं।

卐 **भावार्थ**–सत् की भाववाचकस्थिति 'सत्ता' व्याकरण द्वारा निष्पादित की जाती है। यह सत्ता श्रीजैनदर्शन-जैनमत में सर्वत्र होती है। सब पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा सद्रूप हैं। वैशेषिक-न्यायदर्शन के सिद्धान्तानुसार सत्ता के दो प्रकार हैं–'परा' तथा 'अपरा'।

सत्ता, द्रव्य, गुण, कर्म में विद्यमान रहती है, सामान्य, विशेष और समवाय में नहीं। वैशेषिक मान्यता के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म तीन पदार्थों में ही सत्ता रहती है; क्योंकि इन तीनो में ही 'सत्' है। यद्यपि द्रव्य आदि षट्पदार्थों में 'अस्तित्व' विद्यमान है तथापि वह सामान्य आदि तीन में सामान्यज्ञान का कारण नहीं है। तथा द्रव्य, गुण, कर्म में है अतः द्रव्यादि पदार्थों में ही सत्ता

विद्यमान रहती है। यदि सामान्य, विशेष और समवाय में 'सत्ता' स्वीकार की जाए तो अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध नामक दोष उपस्थित हो जाते हैं। अतः 'सत्ता' सामान्य, विशेष और समवाय में स्वीकार न करके मात्र द्रव्य, गुण, कर्म में ही स्वीकार करनी चाहिए।

सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न है। सत्ता द्रव्य से भिन्न है। जो द्रव्यों से उत्पन्न न हुआ हो या द्रव्यों का उत्पादक न हो तथा जो अनेक द्रव्यों से उत्पन्न हुआ हो अथवा अनेक द्रव्यों का उत्पादक हो उसे द्रव्य कहते हैं। 'सत्ता' में द्रव्य का यह लक्षण घटित नहीं होता है। सत्ता द्रव्यत्व की तरह प्रत्येक द्रव्य में रहती है अतः सत्ता द्रव्य नहीं है। सत्ता गुण से भी भिन्न है, क्योंकि 'सत्ता' गुणत्व की तरह गुणों में रहती है तथा गुण, गुणों में नहीं रहते ('निर्गुणत्वाद् गुणानाम्')। सत्ता, कर्म से भी भिन्न है, क्योंकि वह कर्मत्व की तरह कर्म में रहती है तथा कर्म कर्म में नहीं रहते।

यदि सत्ता को द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न स्वीकार किया जाये तो द्रव्यादि को 'असत्' स्वीकार करना पड़ेगा, जबकि द्रव्यादि की सत्ता स्वयंसिद्ध है। अतः सत्ता को द्रव्यादि से भिन्न मानना न्यायसंगत नहीं है।

वैशेषिक मान्यता के अनुसार ज्ञान, आत्मा से भिन्न है। उन्होंने लक्षण भी किया है—'ज्ञानाधिकरणमात्मा' ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा में विद्यमान रहता है। मुक्ति की दशा में ज्ञानात्मक उपाधि का भी उच्छेद हो जाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा की जड़त्वापत्ति हो जाती है।

श्री जैनदर्शनानुसार तत्त्वार्थ कथन इस प्रकार है कि यदि आत्मा और ज्ञान को सर्वथा पृथक् माना जाये तो अपने ज्ञान से अपनी आत्मा का ज्ञान सम्भव नहीं होगा। वैशेषिकों के मत में आत्मा व्यापक है। अतः एक आत्मा में ज्ञान होने से समस्त आत्माओं को पदार्थ ज्ञान होना चाहिए। वैशेषिक दर्शन ने जो आत्मा और ज्ञान का समवाय सम्बन्ध स्वीकार किया है, वह भी सम्भव नहीं है। आत्मा और ज्ञान में कर्त्ता और कारण सम्बन्ध स्वीकार कर दोनों को पृथक् मानना भी न्यायसंगत नहीं है। वस्तुतः आत्मा और ज्ञान पृथक् नहीं हो सकते। जैसे–'सर्पः आत्मना आत्मानं वेष्टते' सर्प स्वयं को स्वयं के द्वारा वेष्टित करता है। इस स्थिति में कर्त्ता और कारण पृथक् नहीं हैं। अतः आत्मा और ज्ञान पृथक-पृथक् नहीं हो सकते। चैतन्यको वैशेषिकों ने भी आत्मा का स्वरूप माना है। वृक्ष का स्वरूप वृक्ष से भिन्न नहीं हो सकता।

अतः चैतन्य आत्मा से भिन्न नहीं हो सकता। ज्ञान और आत्मा को भिन्न स्वीकार करने पर 'मैं ज्ञानी हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। अतः आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं, अपितु आत्मा ज्ञानरूप है।

वैशेषिकों के अनुसार मुक्ति ज्ञान एवं आनन्द शून्य है। वे मुक्तावस्था में ज्ञान का विनाश भी स्वीकार करते हैं। श्री जैनदर्शन - जैनमत के अनुसार ऐसी मुक्ति के लिए कोई कोशिश - प्रयत्न नहीं करेगा। श्री जैनमत के अनुसार **मुक्ति ज्ञानमयी एवं आनन्दमयी है'** ॥ ८ ॥

[ ९ ]

अथ ते वादिनः कायप्रमाणत्वमात्मनः स्वयं संवेद्यमानमपलप्य तादृशकुशास्त्र-शस्त्रसम्पर्कविनष्ट-दृष्टयः तस्य विभुत्वं मन्यन्ते। अत उपालम्भमाह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र,**
**कुम्भादिवद् निष्प्रतिपक्षमेतत्।**
**तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्व–**
**मतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥ ९ ॥**

❀ **अन्वयः**—यत्रैव यः दृष्टगुणः, सः तत्र । कुम्भादिवत् एतत् निष्प्रतिपक्षम् । तथापि अतत्त्ववादोपहताः, देहाद् बहिः आत्मतत्त्वं पठन्ति ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**—यत्रैवेति न्यायनये आत्मा व्यापकः तस्य व्यापकत्वे प्रमाणस्यापि व्यापकता यथा गगनं सर्वत्र वर्तते । श्रीजैनदर्शने-जैनमते लोकाकाशेऽलोकाकाशेऽपि नायं नियमः । यः विपुलावयवः स एव विपुलान् प्रदेशान् व्याप्नोति । कालादयोऽपौद्‌गलिकत्वेन निरवयवाः । ते सर्वत्रोपलभ्यन्ते तथैव निरवयव आत्मापि तेन व्यापका तस्य तत् परिमाणस्येति परे दार्शनिकाः । श्रीजैनमते प्रदेशी आत्मा । प्रदेशवति शरीरवर्त्तमानत्वात् अतः शरीरप्रमाणत्वमेव । न हि शरीरं विहाय जडवर्गेषु धर्माऽधर्मादिषु आत्मा वर्त्तते । तत्र दृष्टान्तमाह—

ये गुणाः यत्र दृष्टचरास्ते तत्रैव भवन्ति नान्यत्र । यथा—पृथ्वीगत गुणा रूपादयो नाकाशादौ उपलभ्यन्ते तथैव शरीराद् बहिर्नात्मा । बहिर्गतत्वे जडत्वापत्तिः घटस्य रूपाणि घटे एव तिष्ठन्ति नहि परत्र तथैवात्मनो देहपरिमाणत्वं नान्यत्रेति सर्वैरेव स्वीकृतम् । तथापि देहात् बहिरात्मा तद्‌गुणाश्च तथा इति येऽपलपन्ति ते मिथ्याप्रलापिनः ।

अतः तत्त्ववादिनां सदसि ते प्रस्खलन्ति ये तत्त्वमपहाय कदाग्रहमाश्रित्य वदन्ति तेऽन्यथा-प्रलापिनो हास्यतां व्रजन्ति। यद्यपि सुरभितः पवनः सुरभितं जलमिति प्रतीतिर्भवति सौरभम्। पृथिवीमात्रवृत्तिः, न तु व्यभिचार इति नैव वाच्यम्। उभयत्रापि सूक्ष्मपार्थिवभागेन तत् सहचारिणो गुणाः प्रतीयन्ते। आत्मनो व्यापकत्वे युक्त्यन्तरमपि वर्तते द्वीपान्तर्गते द्वीपान्तर उपलभ्यते तन्न घटते आत्मनो सत्त्वप्रयासाऽभावात् कथं कार्योपलब्धिः आत्मनो व्यापकता स्वीकार्या। जैनाः वदन्ति-अदृष्टाः सावयवास्ते देशान्तरमपि व्याप्नुवन्ति। अत उपलब्धौ न कापि क्षतिः। मन्त्रप्रभावाद् दूरगामिनो भवन्ति तथैव आत्मापि इत्यपि न वाच्यम्। तेषामधिष्ठातारो देवा भवन्ति। ते नानालब्धिमन्तो भवन्तीति। अनेकैः प्रमाणैः शरीरप्रमाणमेवात्मा न तु बहिरिति ॥ ९ ॥

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ**–जिस पदार्थ के गुण, जिस स्थान में दृष्ट होते हैं, वह पदार्थ उसी स्थान में रहता है। जैसे–जहाँ घट के रूप आदि गुण रहते हैं, वहीं घट भी रहता है। तथापि अतत्त्ववादी (वैशेषिकदर्शनानुयायी) देह के बाहर भी आत्मा को (सर्वव्यापक) मानते हैं ॥ ९ ॥

卐 **भावार्थ**–प्रस्तुत श्लोक में वैशेषिक दर्शन की मान्यता का खण्डन युक्तिपूर्वक किया गया है कि 'आत्मा सर्वव्यापक नहीं है'। न्यायदर्शन मत के अनुसार 'आत्मा व्यापक है'। जैसे–'आकाश सर्वत्र व्यापक है'। ऐसी व्यापकता स्वीकार करने पर आत्मा प्रमाण (आकार) की व्यापकता भी सिद्ध होती है। श्री जैनदर्शन–जैनमत में तो लोकाकाश, अलोकाकाश में भी यह नियम नहीं है। सामान्यतया विपुलावयववान् ही विपुल (अधिक) प्रदेश को व्याप्त करने में सक्षम होता है। वस्तुतः काल आदि तत्त्व अपौद्गलिक होने के कारण निरवयव हैं। वे सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। उसी प्रकार आत्मा को भी व्यापक मानना चाहिए तथा उस के परिमाण को भी व्यापक स्वीकार करना चाहिए-ऐसा वैशेषिक दार्शनिक कहते हैं।

श्रीजैनदर्शन–जैनमत में आत्मा प्रदेशी है। शरीर मात्र परिणामवान् है। शरीर के अतिरिक्त धर्म, अधर्म आदि तत्त्वों में आत्मा की उपस्थिति नहीं होती। इस सन्दर्भ में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि–जो गुण जहाँ दिखाई देते हैं, उनकी उपस्थिति (अर्थात् उन पदार्थों की उपस्थिति) वहीं होती है। जैसे–पृथ्वीगत रूप-रस-गन्धादि गुण आकाश आदि में दृष्टिगोचर (उपलब्ध) नहीं होते। ठीक इसी प्रकार शरीर से बाहर आत्मा की

स्थिति नहीं है। आत्मा शरीर-परिमाणवान् है। बाहर स्वीकार करने पर आत्मा के सम्बन्ध में जड़त्व आपत्ति सम्भव है। घट-घड़े के रूपादि घट-घड़े में ही रहते हैं अन्यत्र नहीं। अतः आत्मा देह परिमाण है। अन्यत्र स्वीकार करना मिथ्या प्रलाप मात्र है। यद्यपि सुगन्धित वायु, सुगन्धित जल इस प्रकार की प्रतीति भी होती है, इसे अतिव्याप्ति (व्यभिचार दोष) नहीं माना जा सकता, क्योंकि उभयत्र सूक्ष्म पार्थिव गुणों की सत्ता विद्यमान है तथा पुष्पादि सम्पर्क से भी यह प्रतीति सम्भव है।

आत्मा का अदृष्ट नामक एक विशेष गुण है। यह अदृष्ट होने वाले समस्त पदार्थों में निमित्त कारण है और यह सर्वव्यापक है। अन्यथा इससे दूसरे द्वीपों में भी निश्चित स्थान में रहने वाले पुरुषों के भोगने योग्य सुवर्ण, रत्न, चन्दन तथा स्त्री इत्यादि कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? यदि आत्मा सर्वव्यापक नहीं होता तो आत्मा का अदृष्ट गुण अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं कर सकता। गुण, गुणी को छोड़कर नहीं रहता है। अतएवं आत्मा सर्व व्यापक है। वैशेषिक आदि दर्शन के मत से आत्मा के अदृष्ट गुण को सर्वत्र देखने के कारण आत्मा की सर्वव्यापकता स्वयंसिद्ध है। इस तर्क को खण्डित करते हुए कहा है–'तन्न घटते'।

उक्त वैशेषिक कथन श्री जैनदर्शनानुसार युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अदृष्ट के सर्वव्यापी होने में कोई प्रमाण नहीं है। यदि आप ऐसा कहें कि अग्नि की शिखा का ऊँचा जाना, पवन-हवा का तिरछा बहना, यह सब अदृष्ट से ही होता है। अतः अदृष्ट का साधक प्रमाण है। तो यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि ये उनके तत्-तत् स्वभाव मात्र हैं तथा सत्त्व गुण प्रयास नहीं करता। यह सिद्ध है कि–आत्मा के बुद्धि आदि गुण शरीर में रहते हैं। अतः गुणी आत्मा भी देह परिमाणी है।

यदि आप कहें कि–भिन्न देहस्थ में भी मन्त्रों से आकर्षण, उच्चाटन इत्यादि प्रत्यक्ष देखे जाते हैं तो मन्त्रातिरिक्त गुणों की सत्ता व्यापक रूप से है। उसी प्रकार आत्म सत्ता शरीरातिरिक्त भी बहिर्भाग में व्यापक है-ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आकर्षण-उच्चाटन-मारण इत्यादि मन्त्र के गुण नहीं हैं॥ ९॥

वैशेषिक–नैयायिकयोः प्रायः समानतन्त्रत्वादौलूक्यमते क्षिप्ते यौगमतमपि क्षिप्तमेवावसेयम्। पदार्थेषु च तयोरपि न तुलया प्रतिपत्तिरिति। साम्प्रतमक्षपादप्रतिपादित-पदार्थानां सर्वेषां चतुर्थपुरुषार्थं प्रत्यसाधकतमत्वे वाच्येऽपि, तदन्तःपातिनां छल जाति निग्रहस्थातानां परोपन्यासनिरा-

समात्रफलतया अत्यन्तम् अनुपादेयत्वान् तदुपदेशदातुर्वैराग्य-मुपहसन्नाह–

[ १० ]

**卐 मूलश्लोकः–**

**स्वयं विवादग्रहिले वितण्डा-**
**पाण्डित्य-कण्डूल-मुखे जनेऽस्मिन् ।**
**मायोपदेशात् परमर्म भिन्दन् ,**
**अहो ! विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥ १० ॥**

❀ **अन्वयः**–विवादग्रहिले, वितण्डा-पाण्डित्य-कण्डूल मुखे स्वयम्, अस्मिन् जने, मायोपदेशात् पर मर्म भिन्दन् अन्यदीयः मुनिः अहो ! विरक्तः ।

**卐 स्याद्वादबोधिनी**–यो हि जनः विषमो वादः विवाद-स्तेन ग्रहिलः तस्मिन् । भूताविष्ट-पिशाचग्रहक्षी बे वितण्डापाण्डित्यकन्डूलमुखे । विशेषण तण्डचते=हन्यते यया युकत्या सा वितण्डा कथ्यते । 'स्त्रियां गुरोश्च हलः' इति अङ् प्रत्ययः । सद् असद् विवेकिनी बुद्धिः पण्डा सा संजाता यस्य "तदस्य संजातं तारकादिभ्यः इतच्" इति इतच् प्रत्यये पण्डितः पण्डितस्य भावः पाण्डित्यम् । कण्डूः चर्मरोगः विशेषः स अस्ति अस्य सि प्रमादित्वाल्लः प्रत्ययः ।

कण्डूलं मुखं यस्य सः तस्मिन्। जने प्राकृतप्राये लोके विषयत्वं सप्तम्यर्थः।

**अयं भावः**–यो हि स्वयमेव भूतावेशेन पिशाचवत् यथा तथा प्रचलति मुधैवं विवादं करोति। तस्मिन्नपि विषये अक्षपादः छल-जाति-निग्रह प्रभृतीनि षोडशतत्त्वानि उपदिशति। असौ श्रीजैनदर्शन-मुनिवरेभ्यो भिन्नोऽपि विरक्तः वीतरागः कथ्यते। अतोऽसौ अहो आश्चर्यकारी प्रकृतिः। नाऽसौ विरक्तोऽपि तु रागरक्तः। उपहासार्थम् अहो शब्द प्रयोगः।

सर्वे दार्शनिकाश्चैवं मन्यते–पदार्थसार्थं ज्ञानेन तत्त्वाधिगमो जायते। तत्त्वाधिगमेन रागादिनिवृत्तिः। यत्र यत्र रागादिनिवृत्तिस्तत्र तत्र मुक्तिः। अतो यो हि स्वयं रागवान् स यदि वितण्डादिपदार्थोपदेशं परेभ्यः प्रयच्छति, तैरपि मुक्तिं स्वीकरोति। तदाऽसौ मुग्धान् जनान् वञ्चयत्येवम्, नैव मुक्तिमार्गं प्रदर्शयति। स्वयं विनष्टः परान् विनाशयति। तेन विनाशो विरक्तः। परमतिशयेन रागलिप्तः इति परमार्थः। श्रीतत्त्वार्थसूत्रे तु विवादेनाऽपि श्रीतत्त्वाधिगमो भवति-इति सूचितम्।

वादिनौ द्वौ भवतः जिगीषुस्तत्त्वनिर्णेता च। तौ मिथो विवदमानौ साधक-बाधकाभ्यां प्रमाणाभ्यां स्वमतं समर्थयतः। परमतं निराकुरुतः।

नहि तत्त्वज्ञानिना मूकेन भाव्यम् । जिज्ञासव एव विवदन्ते न मूकाः । शब्दप्रयोगस्य किं प्रयोजनम् ? परोपदेशाय । आगमानां का उपयोगिता ? यदि सन्देहो न निराक्रियते । अतः परोत्कर्षहानिमपहाय तत्त्वार्थनिर्णयार्थं विवादादयो विधेया न तु हेया इत्यपि सुधियो विभावयन्त्विति सुशीलसूरयः ।

वैशेषिकदर्शन एवं न्यायदर्शन के सिद्धान्त प्रायः समान हैं ।

अतः वैशेषिक मत खण्डन से ही न्यायदर्शन मत का खण्डन भी समझना चाहिए । अक्षपाद द्वारा प्रतिपादित समाप्त पदार्थ मोक्ष-साधक नहीं हैं, तथा उसके सिद्धान्तों में पर मत खण्डन के लिए अपनाये गये छल, जाति, निग्रहस्थान पदार्थ सर्वथा अग्राह्य हैं, त्याज्य हैं ।

अक्षपाद के वैराग्य का उपहास करते हुए कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यश्री ने कहा है–

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ**–यह आश्चर्य की बात है कि स्वयं विवादरूपी पिशाच से निगृहीत, वितण्डा रूप पाण्डित्य से मुख-खर्जन-समन्वित, छल, जाति, निग्रह आदि के उपदेश

से दूसरों के निर्दोष हेतुओं का खण्डन करने वाले अक्षपाद भी वीतराग मुनि समझे जाते हैं। वस्तुतः वे रागरंजित हैं।

समस्त दार्शनिकों ने स्वीकार किया है कि–पदार्थ-सार्थ-ज्ञान से तत्त्वार्थाधिगम होता है। तत्त्वार्थ के अधिगम से राग-द्वेष आदि की निवृत्ति होती है। जहाँ-जहाँ रागनिवृत्ति होती है मुक्ति की स्थिति वहीं प्रोद्भासित होती है। जो स्वयं रागादि संवलित हो और छल, जाति, वितण्डा इत्यादि पदार्थों के द्वारा मुक्ति की साध्यता का उपदेश देता हो, वह भी भोले-भाले लोगों को मात्र वाग् जाल से ठगने का उपक्रम करता है। उन्हें पथ-भ्रष्ट करता है। वह स्वयं विनष्ट होकर दूसरों को विनष्ट करने का प्रयास करता है। ऐसा व्यक्ति वीतराग परमार्थी मुनि नहीं हो सकता, अपितु रागलिप्त हो है।

आचार्यश्री का तात्पर्य यह है कि, नैयायिक सोलह पदार्थ स्वीकार करते हैं, जिनमें वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का उल्लेख है, जो कि सर्वथा त्याज्य है। वे इनके ज्ञान से मुक्ति-मोक्ष स्वीकार करते हैं। जबकि **'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः'** ज्ञान और क्रिया की

उत्कृष्टता से ही मुक्ति-मोक्ष सम्भव है। मात्र ज्ञान से मुक्ति-मोक्ष सम्भव नहीं है। संस्कृत साहित्य में कहा भी है–

**'ज्ञानं भारं क्रियां विना'** क्रिया के बिना, आचरण के बिना ज्ञान भार स्वरूप है। वाद-वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान दूसरों को प्रवंचित करने (ठगने) के लिए ही हैं। अतः इन्हें तत्त्व कहना समीचीन नहीं है। इनसे मुक्ति-मोक्ष सम्भव नहीं है।

ध्यातव्य है कि–श्रीतत्त्वार्थसूत्र में विवाद को भी श्रीतत्त्वार्थाधिगम का हेतु स्वीकार किया गया है। सामान्यतया प्रचलित भी है–'**वादे वादे, जायते तत्त्वबोधः।**'

वादी दो प्रकार के होते हैं–जिज्ञासु और निर्णेता। ये दोनों ही साधक-बाधक प्रमाणों की सहायता से अनुपयुक्त मत का खण्डन तथा सत् का समर्थन करते हैं। वादी तथा प्रतिवादी दोनों के द्वारा निर्णीत विषय ही निर्दोष सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित होता है। अन्यथा शब्द-प्रयोग का शास्त्रीय प्रयोजन ही क्या होगा? आगम भी यदि सन्देह की निवृत्ति करने में समर्थ न हों तो उनकी क्या उपयोगिता?

श्री जैन सिद्धान्त-आगम सूत्रों में स्थान-स्थान पर वाद शक्ति द्वारा उत्थापित विविध पक्षों का सर्वज्ञ-श्रमण भगवान श्री महावीर परमात्मा द्वारा समीचीन तात्विक समाधान प्रस्तुत किया गया है। अतः वाद की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि ऐसा करना तत्त्व-निर्णय में गतिरोध उत्पन्न करता है। श्रुतकेवली श्रीगौतम स्वामी गणधर महाराज की शङ्काओं का समाधान श्री आगम सूत्रों में इसी शैली में वर्णित है। हाँ, यह सत्य है कि, दूसरों के उत्कर्ष को कोई हानि पहुँचाने के उद्देश्य से नहीं, अपितु तत्त्वार्थ जिज्ञासावृत्ति से किया गया विवाद भी श्रेयस्कर है। जिज्ञासु ही वाद को बढ़ावा देते हैं, मूक नहीं। यह मेरा (**विजय सुशील सूरि का**) विनम्र निवेदन है कि श्री जैन विद्वान् पण्डित इस सन्दर्भ में विमर्श करें ।। १० ।।

अधुना मीमांसक-भेदाभिमतं वेदविहितहिंसायाः धर्म-हेतुत्वमुपपत्तिपुरःसरं खण्डयन्नाह–

[ ११ ]

**卐 मूल श्लोकः–**

**न धर्म-हेतुर्विहिताऽपि हिंसा ,**
**नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च ।**
**स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सा ,**
**सब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ।। ११ ।।**

**अन्वयः**–विहिता, अपि हिंसा, धर्महेतुः न, अन्यार्थम्, च उत्सूत्रम्, न अपोद्यते । परेषाम्, स ब्रह्मचारि, स्फुरितम्, स्वपुत्रघातात् नृपतित्वलिप्सा (इव प्रतीयते) ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–सम्प्रत्याचार्यो वैदिकी हिंसा हिंसा न भवतीति मीमांसकोक्तं मतं सद्युक्त्या निराकुर्वन् कथयति–वेदोक्ता हिंसा हिंसा न भवति–इति कथनं न तर्कसंगतम् । यतो हि हिंसा सदैव पापकर्म्मबन्धिनी, आत्मनः पातिनी चेति । **'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'** इति उत्सर्गवाक्याद् भवता स्वयमेव स्वीकृतमेव । पुनश्च वेदविहिता हिंसा हिंसा कथन्न स्यात् ? हिंसायाः व्युत्पत्तिस्तावत्हिंसनं हिंसा । 'गुरोश्चहलः' इति अङ्प्रत्ययः, स्त्रियां टापि । परप्राणव्यपरोपणं हिंसा । श्लोकेऽस्मिन् वैदिकी हिंसापि । पापायैव न तु पुण्यायेति वक्तुमुपक्रमितमाचार्येण ।

मीमांसकाः कथयन्ति–वेदप्रतिपादिता हिंसा पुण्यजनिका भवति । यतो हि तस्याः हिंसया सन्तुष्टाः देवाः वृष्टिं कुर्वन्ति । अतिथयः कृपावन्तो भवन्ति, पितरः सन्ततिं संवर्द्धयन्ति । श्रीजैनदर्शनमान्यतानुसारेण नैतद् वैदिकोक्तमुपादेयम् । यतो हि कापि हिंसा पुण्याय न कल्पते । **'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति'** अपितु पुण्य-

जनिका सा स्वर्गाय कल्पते' इति कथनमसत्यसम्पृक्तम् । एतद् वचनं दूषयितुमाचार्येण प्रोक्तम्–'**स्वपुत्रेत्यादि**' ।

हिंसा महापातकजननीति स्वयंसिद्धम् । राज्यप्रात्यर्थं निजपुत्रहिंसकः किं पापसंवलितो न भवति ? अपितु भवत्येव । स्वपुत्रघातात् नृपतित्व लिप्सा ब्रह्मचारि निजसुत निघातेन राज्य मनोरथ प्राप्ति सदृशं पराङ्मुखानां चेष्टितमिति । एवं सुस्पष्टं यत् कश्चित् मूर्ख एव परुषाशयतया निजसुतं व्यापाद्य राज्यश्रियं समीहते । न च तत् प्राप्तावपि पुत्रघातपातककलङ्कपङ्कः क्वचिद् विनश्यति । अतः वेदोक्तहिंसया देवतादिप्रीतिसिद्धवपि, हिंसा समुत्थं दुष्कृतं न खलु पराहन्यते वस्तुतः हिंसया देवाः प्रसन्नाः न भवन्ति । न च हिंसकानां प्रतिष्ठा भवति विदुषां समाजे । हिंसा पुण्यजनकतावच्छेदकतावच्छिन्ना भवतीति पूर्वमेव प्रतिपादितत्वात् । मन्दिरप्रसङ्गे जायमानया हिंसयै तस्याः तुलना नैव कार्येतिदिक् ।

अब कलिकाल सर्वज्ञाचार्यप्रवर श्री हेमचन्द्र सूरीश्वर जी म. श्री मीमांसक मत का खण्डन सयुक्ति प्रतिपादित करते हैं कि हिंसा सदैव पापकर्मबन्धिनी होती है, चाहे वह वेदोक्त ही क्यों न हो ।

❀ **श्लोकार्थ**–वेदोक्त होने पर भी हिंसा कदापि पुण्य का कारण नहीं होती। दूसरे कार्य के लिए प्रयुक्त उत्सर्गवाक्य उस कार्य से भिन्न कार्य के लिए प्रयुक्त वाक्य के द्वारा अपवादक नहीं बनाया जा सकता। मीमांसा-मतानुयायियों का यह प्रयास अपने पुत्र को स्वयं मार कर राज्य प्राप्त करने की अभिलाषा के समान है।

卐 **भावार्थ**–मीमांसकों द्वारा जो यह भ्रामक वार्त्ता प्रचारित की गई है कि, वेदोक्त हिंसा, हिंसा नहीं होती है। वह किसी प्रकार भी सत्य के धरातल पर नहीं टिक पाती है। **'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'** किसी भी प्राणी की किसी प्रकार से हिंसा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार के वेदोक्त उत्सर्ग-सन्देश के पश्चात् **पञ्च-पञ्च नरवाः भक्ष्याः' 'अग्निषोमीयं पशुमालमेत'** इत्यादि अपवाद विधि का उपस्थापन उत्सर्गपक्ष के सिद्धान्त को महती क्षति पहुँचाता है। **'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति'** कहकर इसका समाधान प्रस्तुत करना कदापि समुचित एवं न्यायसंगत नहीं हो सकता, क्योंकि हिंसा का, वह भी पुण्यकर्म में पूजा आदि के लिए अपवाद विधि द्वारा उपस्थापन करना कैसे न्याय संगत हो सकता है? पुण्य (धर्म) के कार्य में हिंसा का अपवादात्मक विधान

उत्सर्ग विधि का उपहास मात्र है ? अर्थात् इससे उत्सर्ग विधि का औचित्य सर्वथा विनष्ट हो जाता है। साथ ही उस पर प्रश्नचिह्न भी लगता है कि यदि पूजापद्धति *में हिंसा, पापजनकतावच्छेदिका नहीं होती तो सामान्य* कार्यों में हिंसा पाप का कारक कैसे हो सकती है। यद्यपि उत्सर्ग एवं अपवाद विधि को जैन भी स्वीकार करते हैं। 'उत्सर्गावच्छेदकावाच्छिन्ने विधौ अपवाद विषयातिरिक्तेन संकोचः क्रियते'।' अर्थात्–उत्सर्गविधि में अपवाद विधि के द्वारा कुछ सोमाङ्कन किया जाता है। अतः अपवादविधि को छोड़कर ही उत्सर्ग विधि की प्रवृत्ति होती है। तथापि वैदिकी हिंसा के सन्दर्भ में इसे स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं है।

यह बात पूर्व में स्पष्ट की जा चुकी है, किन्तु यदि कोई फिर भी दृढ़तापूर्वक वैदिकी हिंसा को समुचित ठहराने का प्रयत्न करता हो तो अपने पुत्र को स्वयं मारकर राजा बनने की अभिलाषा वाले मूर्ख व्यक्ति के समान उसकी भो उक्ति एवं कोशिश निस्सार है, निर्मूल है।

मन्दिरनिर्माण एवं पूजन इत्यादि में पुष्प, जलप्रयोग जन्य एकेन्द्रिय आदि के घात से होने वाली हिंसा के साथ नृशंसतापूर्वक यज्ञ में कृत पशुवध (हिंसा) की तुलना करना बुद्धि का दिवालियापन ही है ।। ११ ।।

## [ १२ ]

सम्प्रति नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकभेदभट्टानां एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानवादिनां च यौगानां मतं दूषयन्नाह–

**卐 मूल श्लोकः–**

**स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः ,**
**प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु ।**
**परे परेभ्यो भयतस्तथापि,**
**प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ।। १२ ।।**

❀ **अन्वयः**–बोधः स्वार्थावबोधक्षमः, एव अन्यथा तु अर्थकथा न प्रकाशते । परेभ्यः भयतः परे अनात्मनिष्ठं ज्ञानं प्रपेदिरे ।

**卐 स्याद्वादबोधिनी**–ज्ञानं स्वात्मानं प्रकाशयन् वस्तु प्रकाशयति परतो वेति विषये विवदन्ते । तत्र भट्टमतं योगाचार्यमतं निराकरिष्णुराचार्यः कटाक्षयन्नाह । **स्वार्थावबोध इति** । पूर्वं स्वमतं प्रकाशयति–**बोधः**–बुध्यते ज्ञायते पदार्थजातं येन सः । बुध् धातोः 'करणाधिकरणयोश्च' इति सूत्रेण घञ् प्रत्यये गुणे च कृते बोधः=ज्ञानम् । स्वस्य अर्थः स्वार्थः तस्य बोधो ज्ञानम् तस्मिन् क्षमः=समर्थ एवेति

निश्चयार्थकः । स्वार्थावबोधनक्षम एव वस्तुरूपं प्रकाशयति । यदि ज्ञानं स्वप्रकाशार्थं ज्ञानान्तरमपेक्षते तदपि परं ज्ञानम्, तदपि परं एवं सति अनवस्थादोषः । अतः स्वार्थावबोधक्षमः ।

कुमारिलभट्टस्तु सर्वं ज्ञानं परोक्षं मनुते । नैव स्वार्थप्रकाशने न क्षमः सर्वं ज्ञानं परोक्षम् । परोक्षज्ञाने ज्ञानान्तरस्यापि अपेक्षा भवति । नहि उत्पद्यमानः प्ररोहः फलं प्रयच्छति । अनुकूलजलादिदानान्तरम् एव तत्र प्रकाशकता प्राकट्यं ज्ञानान्तरेण जायते । यथा द्विबद्धं सुबद्धं भवति । तथा सति अनवस्था नदी दुस्तरणीया । अतस्तन्मतं न युक्तम् । एकस्मिन् क्रियाविरोधः, युक्तिस्तेन कथ्यते तामपि निराकरोति । एककालावच्छेदेनापि क्रियान्तरं दृश्यते, न विरोधः ।

जैनाः परिणामवादिनो भवन्ति । लोभायितः पुरुषः परकीयं पतितं विस्मृतं वस्तु प्रेक्ष्य यस्मिन् काले परिणमति तस्मिन्नेव काले गृह्णाति । नहि कालान्तरमपेक्ष्यते यस्मिन् काले दन्ताश्चर्वयन्ति तस्मिन् काले रसना रसान् स्वादते । अतो विरोधाभावः । यस्मिन् काले कुण्डलीकाले स्वात्मना स्वात्मानं वेष्टयति तस्मिन्नेव काले तत्र कर्तृत्वं कर्मत्वं करणत्वं त्रितयमविरोधेन तत्र वर्त्तन्ते ।

प्रत्यभिज्ञानात्मके ज्ञाने प्रत्यक्षं स्मरणमुभयं समकालमेव भवति, न तु कालान्तरमपेक्षते । तस्माद् विरोधलवोऽपि नास्ति ।

'ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यम् ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात् घटवत्' इति न्यायमतमपि विभावनीयम् ॥

ज्ञान को प्रत्यक्ष न मानकर नित्य-परोक्ष स्वीकार करने वाले कुमारिलभट्ट मीमांसक आदि के प्रति कहते हैं–

❀ **श्लोकार्थ**–ज्ञान अपने को तथा दूसरे पदार्थों को जानने में समर्थ है ही । यदि वह स्व-स्वरूप-प्रकाशक न हो तो पदार्थ सम्बन्धी कथन स्पष्ट नहीं हो सकता । तथापि ज्ञान के स्वप्रकाशक होने पर भी पूर्वपक्षवादियों के भय से अन्य लोग ज्ञान को आत्मनिष्ठ स्वीकार नहीं करते हैं ।

卐 **भावार्थ**–'बुध् अवगमने' धातु से 'करणाधिकरणयोश्च' सूत्र से घञ् प्रत्यय, गुण करने पर 'बोध' शब्द की निष्पत्ति होती है । अपने को प्रगट करने में सक्षम ही पर वस्तु को प्रकाशित करने में समर्थ होता है; जैसे–दीपक अपने को प्रकाशित करके पदार्थान्तर को भी प्रकाशित

करता है। यदि ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा स्वीकार की जाये तो क्रमशः अन्य को अन्य की अपेक्षा होने से अनवस्था नामक दोष होता है।

कुमारिल भट्ट तो सभी ज्ञान को परोक्ष स्वीकार करते हैं। स्वार्थ प्रकाशन में समस्त ज्ञान परोक्ष है। परोक्ष ज्ञान में ज्ञानान्तर की अपेक्षा होती है। यह ज्ञातव्य है कि तुरन्त उगता हुआ अंकुर फल प्रदान नहीं करता है। अनुकूल जलवायु प्राप्त करने के पश्चात् उसमें कालसापेक्ष्य फल–प्रदायकता प्रकट होती है। ठीक इसी प्रकार प्रकाशकता का प्राकट्य भी ज्ञानान्तर के द्वारा समुद्भूत होता है। ऐसा होने पर अनवस्था रूपी नदी को पार करना कठिन हो जायेगा। इसका निराकरण करते हुए सयुक्ति आचार्य कहते हैं–एक ही समय में अन्य क्रिया के विद्यमान होने पर भी किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है।

जैन परिणामवादी हैं। लोभी व्यक्ति दूसरे की विस्मृत या पतित वस्तु को देखकर जिस समय परिणमन करता है, उसी समय उसे ग्रहण करता है; अन्य काल की वहाँ अपेक्षा नहीं रहती। कुण्डली न्याय में साँप अपने आप अपने को बाँधता है, ऐसे वाक्य में कर्तृत्व कर्मत्व उभय की स्थिति 'एककालावच्छेदेन किल वर्त्तमान' रहती है।

अतः हम मानते हैं कि, प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान में भी प्रत्यक्ष, स्मरण, उभय स्थिति समकाल ही होती है। कालान्तर की वहाँ अपेक्षा नहीं रहती। अतः विरोध की सम्भावना नहीं है।

न्यायदर्शन एवं वैशेषिकदर्शन की मान्यता है कि ज्ञान स्वविदित नहीं होता, वह अनुव्यवसायगम्य है। 'अयं घटः' इस व्यवसायरूप ज्ञान के पश्चात् यह मानस ज्ञान होता है कि मैं इस घट को घट रूप से जानता हूँ। इस अनुव्यवसायरूप ज्ञान से ही पदार्थों का ज्ञान होता है। अतएव 'ज्ञान दूसरे से प्रकाशित होता है, क्योंकि वह ईश्वरज्ञान से भिन्न होकर प्रमेय है, घट की तरह। तथा ज्ञान को दूसरे से प्रकाशित मानने में अनवस्था दोष नहीं आता, क्योंकि पदार्थ को जानने मात्र से ही प्रमाता का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।

श्रीजैनदर्शन की मान्यता के अनुसार उक्त अनुमान बाधित है, क्योंकि ज्ञान को स्वसंवेदक मानना चाहिए। 'विवादाध्यासितं ज्ञानं स्वसंवेदितम्, ज्ञानत्वात् ईश्वर-ज्ञानवत्'। यह अनुमान व्यर्थ विशेष्य भी है, क्योंकि 'ईश्वरज्ञानान्यत्वं' हेतु के विशेष्य प्रमेयत्व हेतु के कहने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। उक्त हेतु अप्रयोजक

है, सोपाधिक है क्योंकि ईश्वर ज्ञान से भिन्न होकर प्रमेय होने पर भी स्तम्भ आदि जड़ पदार्थ ही अपने को छोड़कर दूसरे से प्रकाशित होते हैं ।। १२ ।।

( १३ )

अथ ब्रह्माद्वैतवादिनं वेदान्तिनं कटाक्षयन्नाह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धिः,**
**अथासती हन्त कुतः प्रपञ्चः ।**
**मायैव चेदर्थसहा च तत् किं,**
**माता च वन्ध्या च भवत् परेषाम् ।। १३ ।।**

❀ **अन्वयः**–चेत् माया सती द्वयतत्त्वसिद्धिः, अथ, (चेत्) असती, हन्त, (विश्वस्य) प्रपञ्चः कुतः ? चेत् माया, एव अर्थसहा, तत् च किंच भवत् परेषाम्, माता, वन्ध्या च (भविष्यतीति) ? ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–वेदान्तिनो हि संगिरन्ति-'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' । यस्य भासा जगद् भाति सर्वम्-इत्यादि तन्मतं निरस्यति कलिकालसर्वज्ञाचार्यप्रवरश्रीमद्-हेमचन्द्रसूरीश्वरः **माया सतीति** ।

जगद् द्वैतजन्यं दृश्यते न केवला स्त्री न वा पुमान् विश्वमुत्पादयितुं क्षमः। अतो द्वैतवादः परमार्थो न तु काल्पनिकः। विश्वरचना विषये ते कथयन्ति माया वच्छिन्नं ब्रह्म जगत् कर्तुं क्षमः तदा एका माया परं ब्रह्म इति **द्वयतत्त्वसिद्धिः।**

एवं सति अद्वैतवाद सिद्धान्तक्षतिः। अतः यथा कथञ्चित् जगत्। सा माया सद्रूपेण विद्यमाना असद्रूपेण वा? सती चेत् तदा द्वैतवादः। असती चेद् तर्हि अभावरूपा। न हि स्वयमभावरूपत्वेन सन्निर्मातुं शक्नोति, अभावस्य अवस्तुत्वात्। न हि सदसद्भ्यां तृतीयोऽस्ति। यथा या माता, सा वन्ध्या न। या वन्ध्या सा माता नेति। अतोऽद्वैतवादस्य खण्डनम्। यथा च-आप्त-मीमांसायां कथितमेव-

**कर्मद्वैतं फलद्वैतं, लोकद्वैतं विरुध्यते।**
**विद्याऽविद्या द्वयं न स्याद्, बन्ध-मोक्षद्वयं तथा॥**

अतः आगमादपि नैवाद्वैतसिद्धिः॥ १३॥

वेदान्तियों के अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए कलिकालसर्वज्ञ आचार्यप्रवरश्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजश्री ने कहा है-'**माया सतीति**'।

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ**–यदि माया सत् रूपा है तो ब्रह्म और माया नामक दो पदार्थों के होने के कारण (सद्भाव से) अद्वैतसिद्धान्त की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि माया असत् रूपा है तो उससे लोकत्रय के पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि माया असत्रूपा होती हुई भी अर्थक्रियाकारिता–सम्पन्न है, अर्थक्रिया करने में समर्थ है तो माता जैसे वन्ध्या नहीं हो सकती तथा वन्ध्या माता नहीं हो सकती; इस व्यावहारिक एवं तात्त्विक उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पदार्थ में सत् तथा असद् रूप विरोधी गुण एक साथ नहीं रह सकते।

वेदान्त दर्शन की मान्यता है कि ब्रह्म एक है, तथा सत् है। माया शबलित ब्रह्म के द्वारा विश्व-जगत् का विस्तार होता है। सामान्य रूप से विश्व-जगत् का द्वैत प्रतीत होता है, क्योंकि न केवल पुरुष, न केवल स्त्री सन्तानोत्पत्ति द्वारा संसार-संवर्द्धन में सक्षम है। अतः द्वैत परमार्थ है, काल्पनिक नहीं। विश्वरचना के विषय में वेदान्ती भी कहते हैं कि माया शबलित ब्रह्म (मायावच्छिन्न) विश्व-जगत् की रचना करता है। इस स्थिति में द्वैतवाद स्पष्ट होता है, क्योंकि इस दशा में भी एक ब्रह्म तथा दूसरी माया स्पष्ट है, जिससे द्वयतत्त्वसिद्धि

(द्वैतवाद की सिद्धि) होती है। ऐसी स्थिति अद्वैतवाद के सिद्धान्त को क्षति पहुँचाती है। माया के सन्दर्भ में शंका होती है कि यह सत् है या असत्? यदि यह सत् है तो द्वैतवाद सिद्ध होता है–अद्वैतवाद अखण्डित होता है। यदि असत् है तो वह अभावरूप है। अभाव को वस्तु-रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। संसार में सद् तथा असद् के अलावा कोई तीसरा तत्त्व प्राप्त नहीं होता है। जैसे जो माता है वह वन्ध्या नहीं है। जो वन्ध्या है वह माता नहीं है। अतः माया में असत्‌रूपता के साथ अर्थक्रियाकारिता नहीं हो सकती। सद् और असद् से पृथक् अनिर्वचनीय स्थिति भी सम्भव नहीं है क्योंकि संसार में सत् एवं असत् के अतिरिक्त किसी तत्त्व की स्थिति नहीं है। अतः 'सदसद्भ्यां अनिर्वचनीया' कथन भी समीचीन नहीं है। आगम से भी अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है। **आप्त मीमांसा** में कहा है–'लौकिक और वैदिक अथवा शुभ और अशुभ अथवा पुण्य और पाप रूपी कर्मद्वैत, प्रशस्त और अप्रशस्त रूप फलद्वैत, इह लोक और परलोक रूप लोकद्वैत, विद्या और अविद्या तथा बंध और मोक्ष का अभाव हो जायेगा।'

अतः आगम प्रमाण से भी अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि सम्भव नहीं है॥ १३॥

[ १४ ]

अथ स्वाभिमतसामान्य-विशेषोभयात्मकवाच्य-वाचक-भाव-समर्थनपुरःसरं तीर्थान्तरीय-प्रकल्पित-तदेकान्तगोचर-वाच्य-वाचकभावनिरसनेन तेषां प्रतिभाविलसितमाह–

卐 मूलश्लोकः–

**अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं,**
**द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।**
**अतोऽन्यथा वाचक-वाच्यक्लृप्तौ,**
**अतावकानां प्रतिभा-प्रमादः ॥ १४ ॥**

❀ **अन्वयः**–वाच्यम्, एकात्मकम् एव, अनेकात्मकम् एव, वाचकम्, अपि, द्वयात्मकम्, अवश्यम्, अतः अन्यथा, वाचक-वाच्यक्लृप्तौ अतावकानाम्, प्रतिभाप्रमादः ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–पूर्वं स्वमतं प्राह–**वाच्यमिति**–वक्तुं योग्यम्, अभिधातुं योग्यम् अभिधेयं-वाच्यम्, पदार्थ-जातम्, तच्च अनेकान्तकम् अपि एकात्मकम् । तथैव वाचकम्-अभिधायकम् **शब्दरूपम्** । तदप्यवश्यम्-निश्चितम् । द्वयात्मकम्-एकानेकात्मकम् । सामान्येन जातिरूपेण एकं व्यक्तिरूपेण पर्यायः अनेकम् । क्रमभावी पर्यायः यत्र यत्र क्रमभावित्वं तत्र-तत्रानेकत्वम् तथैव वाचकाः अपि शब्दाः

शब्दरूपेण चैकम् । ततच्छब्दरूपेणानेकम् ततोऽन्यथा एकमेव तथा चानेकमेव । अतो ये एकान्तेन प्ररूपयन्ति तेषां भ्रमात्मिका मतिः । जात्याकृतव्यक्तयः पदार्था इति भाष्यकारः । समुदितेषु तेषु पदार्थत्वं नैकेकस्मिन् । गौःस्वकीयां जातिम् आकृतिं कृष्णादिगुणाम् उच्चैस्त्वं लघुत्वं व्यक्ति नानात्वं विहाय नहि संचरति । सर्वं हि तत्र भासते । अतः समुदितं वस्तु अविरोधेन वसन्ति अनेके धर्माः । यत्र तद् वस्तु इति भाष्यकाराः प्राहुः ।

मीमांसकमते जातिरेव पदार्थः व्यक्तिः तासां नानात्वेन अवगमाभावः । जातिरेका तेन अवगमः सुगमः एकमेव जगत् सर्वमिति प्रतीतेः । तदा गामानय इत्यत्र रूपाकृति शून्यस्य गोत्वस्य आननं न हि दृश्यते । अतस्तत्र गोत्वाश्रयव्यक्तौ लक्षणा क्रियते । अयमेवदोषः यत्र शक्तिस्तत्र लक्षणा तेन तन्मतं न शोभनम् ।

बौद्धास्तु व्यक्तिरेव स्वीकुर्वन्ति । ते कथयन्ति–व्यक्तिरेव प्रयुज्यते न हि जातिः । तण्डुलाः पक्वा एव भुज्यन्ते न तु तण्डुलत्वम् । अतो व्यक्तिरेव पदार्थः न तु जातिः तर्हि तण्डुलः तण्डुलः, घटःघट इति प्रतीतिः कथं भवति । एकाकारप्रतीतौ सदृशत्वे जातौ लक्षणा क्रियते तर्हि शक्तिलक्षणाश्रयमेव दोषः । अतो जैनः न मन्यते ।

नैयायिकाः सामान्य-विशेषौ उभौस्तः किन्तु तौ भिन्नौ समानस्य भावः सामान्यं सैव जातिः, नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम् ।

मन्मते जातिर्नित्या समवायसम्बन्धेन अनेकेषु व्यक्तिषु सुवर्तते ।

विशिनाष्टि इति विशेषः घञ् प्रत्ययान्तः । किं तावत् तत् ? इतर व्यावर्तकत्वम् विशेषत्वम् । यथा घटत्वेन रूपेण सर्वे घटाश्चैका स्तथापि—'अयं नीलो घटः, अयं रक्तः, गुणाः वैभेदकाः मताः । अपरं च विशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषा नित्येषु आकाशादिषु विद्यमाना भेदग्राहकाः विशेषाः भवन्ति । ते कार्यपृथिव्यतिरिक्ता न सन्ति । पृथिव्यादि चतुर्षु परमाणुः आकाशादि पञ्चसु सामान्य-विशेषौ स्वीकुर्वन्ति ते तथापि भिन्नौ इति जैना न मन्यते ।

श्रीजैनदर्शने-जैनमते सामान्येन द्वौ नयौ । भेदेन सप्तद्रव्यार्थिकः पर्य्यायार्थिकः प्रथमनयजातिमाश्रित्य प्रवर्त्तते, द्वितीयस्तु व्यक्तिमिति । परन्तु श्रीजैनमते कोऽपि नित्यपदार्थो नास्ति । यद् उदाहरन्ति तदपि पर्यायमाश्रित्य । यथा सामान्येन सर्वे सुवर्णालङ्काराः सुवर्णं परित्यज्य न भवन्ति । सर्वत्र सुवर्णालङ्कारो

व्यवह्रीयते । अतः सुवर्णम्, तन्मते द्रव्यम् । द्रवति इति द्रव्यम्, तस्य लक्षणम् । न हि सर्वत्र दृशः दृश्यते । सुवर्णमपि पर्याय एव । सर्वेषां जन्यद्रव्याणां परमाणव एव मूलकारणम् । तेभ्य एव क्रमेण द्व्यणुकादयो भवन्ति, तेभ्य आरभ्य सुमेरुपर्यन्तम् ।

श्रीजैनदर्शनमते परमाणुरपि अनित्यात् भङ्गात्, अणुरिति वचनात् । आत्मापि तन्मतेऽनित्यः । शरीर-परिमाणो हि आत्मा । न्यूनाधिकता तु दीपशिखा संचालनवत् । यदा दीपस्य शिखा उच्चैः क्रियते तदा प्रकाशो वर्द्धते । नीचैः क्रियते तदा हीयते । ये सिद्धास्तत्र भेदः काल-लिङ्ग-क्षेत्रभेदेन तेऽपि भिन्नाः । अतः श्रीजैनमते कथंचित् एकान्तानेकान्तत्वम् ।

श्रीजैनदर्शने-जैनमते द्रव्यार्थिकनयस्य त्रयो भेदाः सन्ति । तद्यथा–संग्रहः, नैगमः, व्यवहारश्चेति । संग्रह-नयः सर्वान् गृह्णाति इति संग्रहः–जातिः व्यक्तिः उभयम् । नैगमनयस्तु न गमः मार्गः यस्य स इति व्युत्पत्त्या अनेकमार्गमाश्रयति । एकाकारप्रतीतौ जाति-वादमनुसरति । भिन्नाकारप्रतीतौ व्यक्तिवादमाश्रित्य एकात्मकम् । न हि एकेन नयेन व्यवहारः प्रचलति । व्यवहारा अनेकाः । जगत् स्वरूपं समीक्ष्य व्यवहारो विधेयः इति सर्वेषां संक्षेपेण मतम् ।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वर जी महाराज कथंचित् सामान्य तथा कथंचित् विशेष रूप वाच्य-वाचक भाव का समर्थन करके प्रतिवादियों द्वारा मान्य एकान्त सामान्य (जाति), एकान्त विशेष रूप वाच्य-वाचक भाव का खण्डन करते हुए उनका प्रतिभा प्रमाद प्रदर्शित करते हैं–

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ**–जिस प्रकार समस्त पदार्थ (वाच्य) अनेक होकर भी पदार्थपने से एक हैं और एक होकर भी अनेक हैं, उसी प्रकार उन पदार्थों के वाचकशब्द, शब्दपने एक होकर भी अनेक और अनेक होकर भी एक हैं। इससे भिन्न वाच्य-वाचक विषयक कल्पना आपको न मानने वाले प्रतिवादियों की बुद्धि का दिवालियापन ही है।

卐 **भावार्थ**–कलिकालसर्वज्ञ आचार्यप्रवरश्री ने इस श्लोक के माध्यम से प्रत्येक वस्तु को सामान्य-विशेष और एक-अनेक प्रतिपादित करते हुए सामान्य एकान्तवादी, विशेष एकान्तवादी, तथा परस्पर भिन्न निरपेक्ष सामान्य-विशेष वादियों पर विचार-विमर्श किया है।

अद्वैत वेदान्ती, मीमांसक एवं सांख्यदार्शनिकों की मान्यता है कि वस्तु सर्वथा सामान्य है, क्योंकि विशेष-सामान्य से भिन्न प्रतिभासित नहीं होते।

बौद्धों का अभिमत है कि हर वस्तु सर्वथा विशेष रूप है; क्योंकि विशेष को छोड़ सामान्य कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है और वस्तु की अर्थक्रियाकारिता की मान्यता है कि सामान्य-विशेष परस्पर भिन्न और निरपेक्ष हैं, अतएव सामान्य और विशेष को एक न मानकर परस्पर पृथक् अंगीकार करना चाहिए। श्री जैनसिद्धान्त के अनुसार तीनों सिद्धान्त कथंचित् सत्य हैं। वस्तु को सर्वथा सामान्य मानने वाले द्रव्यास्तिकनय की अपेक्षा से तथा सामान्य-विशेष को परस्पर भिन्न और निरपेक्ष मानने वाले नैगमनय की अपेक्षा से सत्यपक्षी हैं। अतः सामान्य विशेष को कथंचित् भिन्न-अभिन्न ही स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि पदार्थों का ज्ञान करते समय सामान्य और विशेष दोनों का ही एक साथ ज्ञान होता है। बिना सामान्य के विशेष और बिना विशेष के सामान्य का कहीं भी ज्ञान नहीं होता। जैसे गौ को देखकर हमें अनुवृत्ति रूप गौ का ज्ञान होता है, उसी प्रकार भैंस आदि की व्यावृत्ति रूप विशेष का नहीं होता है। अतएव सामान्य-विशेष कथंचिद् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न

होने से सामान्य और विशेष का ज्ञान होता है। अतः प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् तथा पररूप की अपेक्षा से असत् होती है। द्रव्यरूप से नित्य होते हुए भी पर्याय रूप से अनित्य प्रत्येक वस्तु असत् है ॥ १४ ॥

[ १५ ]

सम्प्रति सांख्याभिमतप्रकृति-पुरुषादि-तत्त्वानां विरोधावरुद्धत्वं प्रगटयन् तन्मान्द्यं प्रदर्शयति—

卐 **मूलश्लोकः—**

**चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः,**
**शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।**
**न बन्ध-मोक्षौ पुरुषस्य चेति,**
**कियज्जडैर्न ग्रथितं विरोधि ॥ १५ ॥**

**अन्वयः**—चित् अर्थशून्या, बुद्धिः जडा। अम्बरादि शब्दादि तन्मात्रजम्, पुरुषस्य बन्ध-मोक्षौ च न इति विरोधि, कियज्जडैः न ग्रथितम् ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**—पूर्वं स्वमतं प्रदर्शयति—बोधते हेयोपादेयात् इति बुद्धिः, अथवा बुध्यते हेयोपादेयो यया साधुरिह बुध्-अवगमने धातोः स्त्रियां क्तिनि बुद्धि सा मन्यते ज्ञानशून्या न जडा सैव बोधरूपा सदसद् विभाजनसमर्था

जन्यजगत् कर्मजन्यम् न तु तन्मात्रा सम्भवम्, बन्ध-मोक्षौ जीवस्यैव भवतः, न परस्य यो हि कर्मभिः बध्यते स एव प्रयत्नविशेषान् मुच्यते। बन्ध-मोक्षौ एकाधिकरण-वर्त्तिनौ। सापराधात् पशवः एव बध्यन्ते, न तु पशुस्वामी। तस्करा एव कारागारे क्षिप्यन्ते नियत-कालाय त एव मुच्यन्ते न परः। तद् व्यतिरिक्तायाः कल्पना सा परवञ्चनाय जडैः क्रियते। इति श्रीजैन-दर्शनम्-जैनमतम् संक्षेपेण।

साङ्ख्याचार्यस्तु प्रकृतिर्विश्वकर्त्री त्रिगुणात्मिका। ततः सा जडा न तु चेतनात्मिका, सा प्रथमं महत्तत्त्वं जनयति-बुद्धिः शब्देन कथ्यते।

जडजन्यपदार्थोऽपि जड एव। अतः सा जडमयी रूपतन्मात्रा रसन्मात्रादिभ्य एव प्रपञ्चः। तन्मात्रा सूक्ष्मपदार्थः न्यायदर्शनमते परमाणवो भवन्ति। तन्मात्रा-दिभिरेव जगन्निर्मितिः।

पुरुषस्तु पुष्कर-पलाशवन्निर्लेपः गगनवत् तस्य बन्ध-मोक्षौ न भवतः। आकाशो न कदापि बध्यते। बन्धा-भावान्न मुच्यते। बन्ध-मोक्षौ चैकस्मिन्नेव दृश्यते इति तन्मतं तत् जडकल्पनावत् इति।

अब कलिकालसर्वज्ञ आचार्यमहाराजश्री सांख्यमत में अन्तर्विरोध की स्थिति प्रदर्शित करते हुए उनके मत का खण्डन करते हैं–

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ**–चैतन्य रहित बुद्धि जड़ है। शब्द आदि पञ्च तन्मात्राओं से आकाश, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु उत्पन्न होते हैं; पुरुष का न बन्ध होता है और न उसका मोक्ष होता है। सांख्यदार्शनिकों की ऐसी परस्पर विरुद्ध प्ररूपणायें हैं।

बुध् अवगमने धातु से 'स्त्रियाम् क्तिन्' से क्तिन् प्रत्यय करके बुद्धि शब्द की निष्पत्ति होती है। वह बुद्धि कदापि ज्ञानशून्य जड़ नहीं होती, अपितु सत्-असत् विवेक शक्ति सम्पन्न होती है। जन्य जगत् कर्मजन्य है न कि तन्मात्रा से समुद्भूत। बन्ध और मोक्ष दोनों जीव के होते हैं, अन्य के नहीं। जो कर्मों से बँधता है वही विशेष प्रयत्नों से मुक्त भी होता है। बन्ध तथा मोक्ष एकाधिकरणवृत्ति होते हैं। अपराध के कारण तस्कर आदि का बन्धन नियत काल के लिए होता है तथा उन्हें ही सजा समाप्ति के पश्चात् मुक्त किया जाता है, दूसरों को नहीं। इसके विपरीत सांख्यदर्शन की

कल्पना दूसरों को वञ्चित करने वाली है तथा मान्द्य की सूचक है ।

सांख्यमत इस प्रकार है—प्रकृति विश्वकर्त्री है । वह सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण नामक इन तीन गुणों से संवलित है । वह जड़ है, चेतन नहीं । गुणत्रय की साम्यावस्था प्रकृति, अविकृति है । कहा भी है कि—

**मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त ।**
**षोडशकस्तुविकारो न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः ।।**

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति सर्वप्रथम '**महत्तत्त्व**' को उत्पन्न करती है, जिसे '**बुद्धि**' नाम से भी पुकारा जाता है । जड़ से उत्पन्न होने वाला पदार्थ जड़ ही होता है, अतः बुद्धि (महत्तत्त्व) भी जड़ ही है । पुनश्च पञ्च-तन्मात्राओं का उद्भव होता है । शब्दादि पञ्च-तन्मात्राओं (परमाणुओं) से आकाश, वायु, आप् (जल), पृथ्वी, तेजस् (अग्नि) का उद्भव होता है । पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा मन का विकास (उद्भव) भी इसी क्रम में होता है । पुरुषतत्त्व सांख्यमत में प्रकृति तथा विकृति से सर्वथा भिन्न है । पुरुष का बन्ध तथा मोक्ष भी नहीं होता है । प्रकृति के ही बन्ध एवं मोक्ष होते हैं । सांख्यकारिका में कहा है कि—

**तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते, नापि संसरति कश्चित् ।**
**संसरति बध्यते मुच्यते च, नानाश्रया प्रकृतिः ।।**

सांख्य मत में उक्त वर्णित पच्चीस तत्त्व (सांख्य-कारिका-६२) क्रमशः इस प्रकार हैं–

१. अव्यक्त (मूल प्रकृति), २. महत् (बुद्धिः), ३. अहंकार, ४. शब्दतन्मात्रा, ५. स्पर्शतन्मात्रा, ६. रूपतन्मात्रा, ७. रसतन्मात्रा, ८. गन्धतन्मात्रा, ९. घ्राण, १०. रसना, ११. चक्षुः, १२. त्वक्, १३. श्रोत्र (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ), १४. वाक् (वाणी), १५. पाणि (हाथ), १६. पाद (पैर), १७. पायु (गुदा), १८. उपस्थ (लिङ्ग), पंचकर्मेन्द्रियाँ, १९. मन, २०. आकाश, २१. वायु, २२. तेज, २३. जल, २४. पृथ्वी, २५. पुरुष ।

इस प्रकार सांख्यदर्शन के विश्व-जगन्निर्माण की जड़ परिकल्पना है । उसकी मान्यता के अनुसार पुरुष सर्वथा शुद्ध अकर्त्ता, निर्लेप है । बुद्धि प्रकृति की विकृति है, वही पदार्थ-ज्ञान रखती है । अचेतन, बुद्धि में चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण वह अपने को (पुरुष) बुद्धि से अभिन्न समझता है 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' ऐसी अनुभूति करता है । यही पुरुष का भोग है । वस्तुतः

बन्ध, मोक्ष प्रकृति का ही होता है; पुरुष का नहीं। पुरुष तो चेतन, निर्लेप, शुद्ध तथा निष्क्रिय है।

श्रीजैनसिद्धान्त के अनुसार सांख्यमत पर विचार-विमर्श करने से ज्ञात होता है कि चेतन शक्ति को ज्ञान से शून्य कहना यह परस्पर विरुद्ध है। यदि चेतन शक्ति 'स्व' व 'पर' का ज्ञान करने में समर्थ नहीं है तो उसे चेतन कैसे कहा जा सकता है? अमूर्त्त चेतन शक्ति का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव नहीं है, क्योंकि मूर्त्त पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। चेतन शक्ति को परिणामी और कर्त्ता माने बिना बुद्धि में परिवर्तन सम्भव नहीं है। प्रकृति अचेतन है तथा पुरुष चेतन है, इसलिए बन्ध पुरुष का ही मानना चाहिए। प्रकृति यानी स्वभावतः प्रकृतिजन्य है तो चेतन पुरुष का सांख्यमत में मोक्ष सम्भव नहीं होगा। क्योंकि प्रकृति अपने परिवर्तन रूपी स्वभाव से विरत नहीं हो सकती। यद्यपि नहीं तथा पंगु बन्धन का उदाहरण देकर सांख्यकारिका में उसे सिद्ध करने का प्रयत्न-प्रयास किया गया है, तथापि वह समीचीन नहीं है। अतएव कलिकालसर्वज्ञ आचार्य महाराजश्री ने सांख्यमत की इस परिकल्पना को जड़-परिकल्पना मानते हुए उस प्रकार से खण्डन किया है ॥ १५ ॥

[ १६ ]

सम्प्रति प्रमाणादेकान्तेनाभिन्नं प्रमाणफलमाहुः, ये च बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण ज्ञानाद्वैतमेवास्तीति ब्रुवते । तन्मतस्य (बौद्धस्य) खण्डनं कुर्वन्नाह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**न तुल्यकालः फलहेतुभावो ,**
**हेतौ विलीने न फलस्य भावः ।**
**न संविदद्वैत-पवेऽर्थ संविद् ,**
**विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ।। १६ ।।**

❀ **अन्वयः**–फल-हेतुभावः, तुल्यकालः न । हेतौ विलीने, फलस्य भावः न । संविदद्वैतपवे अर्थसंविद् न । (अतः) सुगतेन्द्रजालं विलूनशीर्णम् (भवति) ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी–बौद्धाः** स्वीकुर्वन्ति यत् प्रमाणस्य प्रमाणफलस्यैकान्तरूपेणाभिन्नत्वमस्ति । दिङ्नाशविरचिते न्यायप्रवेशे सिद्धान्तोऽयमेवं समुल्लसति-उभयत्र तदेवज्ञानं प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात् । याकिनीमहत्तराधर्मसूनु-श्रीमद्हरिभद्रसूरीश्वराणां कृतन्यायप्रवेशवृत्तौ व्याख्यातम्-उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षानुमानलक्षणं फलम् । अधिगमरूपत्वादिति–परिच्छेदरूपत्वात् । परि-

च्छेदरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यते । न च परिच्छेदाऽन्यद् ज्ञान-फलम्, भिन्नाधिकरणत्वादिति । **पार्श्वदेवकृत्** न्यायप्रवेश-पञ्जिकायामपि सर्वथा प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं फलं नास्तीति । ज्ञानाद्व्यतिरिक्तं यदुच्यते फलं हानोपाना-दिकं तदा तत् फलं प्रमातुरेव स्यान्न ज्ञानस्य । तथाहि ज्ञानेन प्रदर्शितेऽर्थे हानादिकं तद् विषये पुरुषस्यैवोपजायते । अतो हानादिकस्य भिन्नाश्रयत्वान्न फलत्वं मन्तव्यम् ।

**अयं भावः**–बौद्धाः संगिरन्ति यत् एकस्मिन्नेव क्षणिके काले कार्यकारणौ भवतः । भिन्नाधिकरणे कार्य-कारण भावो न स्यात् । प्रमाणपरिच्छेदकम् । प्रमीयते-परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं तत् प्रमाणम् । प्रमाफलेऽभिन्ने, न तु पृथक् । तदिदं सर्वमसङ्गतं बौद्धमतमिति जैनसिद्धान्तः ।

यद्यपि कार्य-कारणौ एकाधिकरणवर्त्तिनौ तथापि न तयोरेकता । घटोत्पत्तौ चक्र-चीवर-दण्ड-कुलाल-योगादयः । एकस्मिन् समये चक्राधिकरणे सन्तोऽपि सर्वे भिन्ना एव प्रतीयन्ते न तु घटरूपाः । अतः कार्य-कारणयोरेकत्वं नात्र स्वीकार्यम् । कारणं प्रथमं मतम् । कारणजन्यं कार्यमिति सर्वैः स्वीकृतम् । सत्येकस्मिन् कार्ये न हि कार्यकारणभावो नापि जन्यजनकभावो भवति । पिता

जनकः कथ्यते-पालान् कथितः पिता। पुत्रस्तु मातृ-पितृ संयोगानन्तरं भवति महता कालेन। न हि यदा यदा तयोः संयोगः तदा तदा पुत्रोत्पत्तिः। तथा सति संयोगाऽनेकत्वे पुत्राणामनेकत्वापत्तिः भूमौ स्थातुं स्थानमपि न स्यात्। एवमेव प्रमाणफलेऽपि भिन्ने। प्रमीयते वस्तुनिष्ठत्वं येन तत् प्रमाणम्। प्रमेयं तु प्रमाज्ञाननयम् तेन प्रत्यक्षकारणानि इन्द्रियाणि, कारण-त्वेन प्राग्वर्तीनि तैर्जन्योऽयं घटः। इदं तस्य रूपम्। अयं तस्य जलाहरणादिरूपयोगः। इदं हि फलम्-विभक्त्यन्त - मुपज्ञानलक्षणाम् अविभक्त्यन्तं यद् वा अङ्गुल्या निर्देशः—पदार्थसार्थलक्षणम्। तस्मात् प्रमाणफलयोर्नैक्यं स्वीकार्यम्।

राहोः शिरः इति परित्यज्य सर्वत्र षष्ठीभेदिका भवति। षष्ठीविभक्तेः प्रयोगः भेदप्रतिपादनाय विधेयः। यथा राज्ञः पुरुषः। पितुः पुत्रः तथैवेदम्-अस्य प्रमाणस्य फलमिति व्यवहारः। अभिन्नत्वे सर्वेषां तत् स्यादतः प्रमाणफलयोः बोधिका षष्ठी क्रियते। यद्यप्युक्तविवेचनेनैव गतार्थता तथापि भावनामादृत्य किञ्चिद् विविच्यते धर्मोत्तरेण बौद्धेन न्यायबिन्दुसूत्रं विवेचयता कथितम्।

**अर्थसारूप्यमस्य** प्रमाणम् । तद्वशार्थ-प्रतीतिसिद्धः । "नीलनिर्भासं हि विज्ञानं यतस्तस्माद् नीलस्य प्रतीतिरवसीयेते । येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो ज्ञानमुत्पद्यते, न तद्वशात् तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यतेऽवस्थापयितुं नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते । न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः । येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोधः स्यात् । अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित् प्रमाणफलं न विरुध्यते । व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम् । श्री जैनदर्शन-जैनमतानुसारेण नैतदपि संगतम् । स्याद्वादमञ्जर्यां प्रोक्तम्—

एकस्य निरंशस्य ज्ञानक्षणस्य व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकत्वलक्षण-स्वभावद्वययोगात् व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावस्यापि च सम्बन्धत्वेन द्विष्टत्वादेकस्मिन्नसम्भवात् । किञ्च, अर्थसारूप्यमर्थाकारिता । तच्च निश्चयरूपम्, अनिश्चयरूपं वा ? निश्चयरूपं चेत्; तदेव व्यवस्थापकमस्तु, किमुभयकल्पनया ? अनिश्चितं चेत् स्वयमव्यवस्थितं कथं नीलादिसंवेदन-व्यवस्थापने समर्थम् ? अपि च केयमर्थकारिता ? किमर्थग्रहणपरिणामः ? आहोस्विदर्थाकारधारित्वम् ?

नाद्यः सिद्धसाधनात् । द्वितीयस्तु ज्ञानस्य प्रमेयाकारानुकरणाज्जडत्वापत्त्यादि दोषाघ्रातः । तन्न प्रमाणादेकान्तेन फलस्याभेदः साधीयान् । सर्वथा तादात्म्ये हि प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था तद्भावविरोधात् । न हि सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमिति सर्वथा तादात्म्ये सिद्धयति, अतिप्रसङ्गात् । एवं सुगतेन्द्रजालं विशीर्णम् ।। १६ ।।

स्तुतिकार कलिकालसर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्रीमद् हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज श्री सम्प्रति प्रमाण से प्रमाणफल (प्रमिति को) सर्वथा अभिन्न मानने वाले तथा बाह्य पदार्थों का निषेध करके ज्ञानाद्वैत को स्वीकार करने वाले बौद्धों का उपहासपूर्वक खण्डन करते हुए कहते हैं कि–'न तुल्यकाल इति' ।

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ**–हेतु और हेतु का फल ये दोनों साथ नहीं रह सकते हैं और हेतु का विनाश हो जाने पर फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । यदि विश्व-जगत् को विज्ञान रूप माना जाये तो पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता ।

卐 **भावार्थ**–अतएव बुद्ध मत का इन्द्रजाल बिखर जाता है । बौद्ध मत तत्त्वार्थ-तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है ।

बौद्धसिद्धान्तवादी कहते हैं कि–प्रमाण और प्रमाण का फल एकान्त रूप से (सर्वथा) अभिन्न है। **दिङ्नाग** विरचित **न्यायप्रवेश** में उन्होंने कहा भी है कि, "जो ज्ञान प्रमिति और अनुमति का कारण होता है, वही ज्ञान दोनों में प्रमाण फलस्वरूप है, क्योंकि ज्ञान अधिगम रूप है। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण में प्रत्यक्षरूप और अनुमान रूप ज्ञान ही फलरूप (कार्यरूप) है क्योंकि वह अधिगम रूप-परिच्छेद-रूप है।

पदार्थों को जानने की क्रिया के अतिरिक्त ज्ञान का कोई दूसरा फल नहीं है, क्योंकि परिच्छेद का अधिकरण और परिच्छेद से भिन्न ज्ञान के फल का अधिकरण भिन्न-भिन्न होते हैं।

अतः प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण का फल प्रत्यक्ष और अनुमानरूप ज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं होता। बौद्धों का उक्त कथन समीचीन नहीं है।

यह सर्वविदित है कि, जो एकान्तरूप से अभिन्न होता है, उसकी उत्पत्ति साथ होती है। यथा–घट और घटत्व। जबकि बौद्धों का कहना है कि–कार्य और कारण एक काल में ही उत्पन्न होते हैं। कार्य और कारण भिन्नाधिकरणवृत्ति नहीं हो सकते हैं।

प्रमाण के विषय में सभी दार्शनिकों की स्पष्ट उक्ति है कि–प्रमाण परिच्छेदक होता है। बौद्ध मत में परिच्छेदक प्रमाण और प्रमाणरूप फल अभिन्न है, पृथक् नहीं। श्रीजैनदर्शन का कथन है कि यह बौद्ध मन्तव्य ठीक नहीं है।

यद्यपि कार्य कारण की एकाधिकरणता भी है तथापि उनकी एकता नहीं है। जैसे घट की उत्पत्ति के समय चक्र, चीवर, दण्ड, कुलाल आदि का संयोग होने पर भी उनकी पार्थक्य प्रतीति स्फुट रूप से होती है। एक अथवा सर्वथा अभिन्न मानने पर उनका कार्य कारण भाव भी नहीं बन सकता।

मातृ-पितृ संयोग से पुत्रोत्पत्ति होती है, किन्तु जब उसका संयोग हो तब-तब पुत्रोत्पत्ति नहीं होती। यदि ऐसा होने लगे तो पृथ्वी पर पैर रखने की जगह भी न मिले। जैसे–पिता और पुत्र में भिन्नता दृग्गोचर होती है, वैसे ही प्रमाण और प्रमाण फल के विषय में भी भिन्नता (पृथक्ता) जाननी चाहिए।

जिससे वस्तुनिष्ठत्व प्रमा (बुद्धि) का विषय बनता है–उसे **प्रमाण** कहते हैं। 'घट' तथा उसका फल जलाहरणादि एकाधिकरणवृत्ति होते हुए भी पृथक् है।

अतः प्रमाण तथा प्रमेय एक नहीं हैं। 'राहोः शिरः' को छेदकर प्रायः षष्ठी विभक्ति सर्वत्र भेदिका होती है। यद्यपि इस विवेचनमात्र से ही श्लोकार्थ की गतार्थता हो जाती है। तथापि जिज्ञासुओं के लिए कुछ और विवेचन अपेक्षित है–

**श्रीन्यायबिन्दु** ग्रन्थ के सूत्र **'अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। तद्वशार्थप्रतीतिसिद्धेः'**–अर्थ के साथ होने वाली समानरूपता के कारण अर्थनिर्णय की सिद्धि हो जाने से अर्थ के साथ होने वाली समानरूपता प्रमाण है। उक्त सूत्र का विवरण प्रस्तुत करते हुए **धर्मोत्तर** ने कहा है कि–

जिस कारण विज्ञान में नील (नीलवर्ण पदार्थ) का प्रतिभास होता है, उस कारण नील की प्रतीति होती है। जिन चक्षु आदि इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उन इन्द्रियों के अधीन होने से इन्द्रियजन्य वह ज्ञान 'नील-पदार्थ का यह ज्ञान है।' इस प्रकार संवेदन नहीं कर सकता, किन्तु अनुभूयमान नीलपदार्थ के द्वारा सदृश ज्ञान (नील सदृश ज्ञान) नीलपदार्थ का ज्ञान है। ऐसा संवेदन किया जाता है।

यहाँ प्रमाण और प्रमाणफल में जन्य-जनकभाव (कार्य-कारणभाव) है। जिसका कारण है—ऐसा साध्य-साधन भाव नहीं है। जिससे एक वस्तु में विरोध उत्पन्न हो, किन्तु यहाँ व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक (निश्चय-निश्चायक) रूप से साध्य-साधन भाव है। अतः एक ही वस्तु का किंचित् प्रमाणरूप होने में और किंचित् प्रमाणफलरूप होने में विरोध नहीं आता है। सारूप्य उस ज्ञान (नील पदार्थ ज्ञान) का निश्चय करने में हेतु है, और नील पदार्थ का ज्ञान व्यवस्थाप्य है।

बौद्ध धर्मोत्तर का यह कथन भी समीचीन नहीं है क्योंकि निरंशज्ञान क्षण में (बौद्ध मत के अनुसार प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है।) घट को केवल 'घट' न कहकर घटक्षण कहते हैं। इसलिए यहाँ भी ज्ञान क्षण से ज्ञान की क्षणिकता समझने पर व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक रूप दो स्वभाव नहीं बन सकते और व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव का सम्बन्ध दो पदार्थों में रहता है।

अतः वह एक निरंश ज्ञानक्षण में नहीं रह सकता तथा ज्ञान का जो अर्थसारूप्य है वह ज्ञान की अर्थाकारिता है। यह ज्ञान का अर्थसारूप्य निश्चय रूप है या अनिश्चय रूप है ?

यदि यह अर्थ सारूप्य निश्चयरूप है तो इस अर्थ सारूप्य को ही व्यवस्थापक (निश्चयात्मक) मानना चाहिए। उसे व्यवस्थाप्य रूप और व्यवस्थापक रूप से अलग-अलग मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि ज्ञान का वह अर्थसारूप्य अनिश्चित है तो स्वयं अनिश्चित अर्थसारूप्य से नील आदि पदार्थ का ज्ञान निश्चित नहीं हो सकता।

ज्ञान की अर्थाकारिता से क्या अभिप्राय है? आप लोग ज्ञेय पदार्थ को जानने वाले ज्ञान के परिणाम को अर्थाकारिता स्वीकार करते हैं अथवा ज्ञान के आकाररूप होने को अर्थाकारिता कहते हैं? प्रथम पक्ष मानने पर सिद्धसाधन दोष है, क्योंकि सभी लोग ज्ञान का स्वभाव पदार्थों का जानना मानते हैं।

यदि आप ज्ञान के पदार्थों के आकार रूप होने को अर्थाकारिता कहते हैं तो ज्ञान को भी जड़ मानना पड़ेगा। अतः प्रमाण और प्रमाणफल को एकान्त अभिन्न मानना संगत नहीं है, क्योंकि प्रमाण और प्रमाणफल में सर्वथा तादात्म्य मानने पर ज्ञान का अर्थ के साथ होने वाला सारूप्य है और अर्थ ज्ञान का फल है, यह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इससे अतिप्रसंग उपस्थित हो जायेगा।

वैभाषिक बौद्ध एवं योगाचार बौद्धों की उक्तियों का निराकरण भी इसी प्रकार समझना चाहिए ।। १६ ।।

[ १७ ]

अथ तत्त्वव्यवस्थापकप्रमाणादिचतुष्टयव्यवहारालापिनः शून्यवादिनः सौगतजातीयास्तत्कक्षीकृत - पक्षसाधकस्य प्रमाणस्यास्याङ्गीकारलक्षणपक्षद्वयेऽपि तदभिमतार्थासिद्धि-प्रदर्शनपूर्वकमुपहसन्नाह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**बिना प्रमाणं परवन्न शून्यः,**
**स्वपक्ष-सिद्धेः पदमश्नुवीतम् ।**
**कुप्येत् कृतान्तः स्पृशते प्रमाणम्,**
**अहो ! सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ।। १७ ।।**

❀ **अन्वयः**–शून्यः, प्रमाणं विना, परवत् स्वपक्षसिद्धेः पदम्, न अश्नुवीतम् । प्रमाणं स्पृशते (चेत् शून्यः सिद्धान्तरूपः) कृतान्तः कुप्येत् । अहोत्वदसूयिदृष्टम्, सुदृष्टम् ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–इदानीं शून्यवादिनं सुगतमतं निराकरोति । 'प्रमाणेन प्रमेयस्य सिद्धिर्भवति' इति सर्वे तार्किकाः स्वीकुर्वन्ति । शून्यवादी सुगतस्तु विनैवप्रमाणं

स्वीकरोतीति कृत्वा तं क्षिपन्नाह–विनाप्रमाणमिति। अयं भावः प्रमाणमनेकविधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दम्–न्यायदर्शनमते चत्वारि प्रमाणानि। प्रभाकरमते अर्थापत्तिः प्रमाणम्, सम्बन्धोऽपि प्रमाणम्।

श्रीजैनदर्शनमते द्वे एव प्रमाणे प्रत्यक्षं परोक्षं चेति। प्रत्यक्षं तावत् अवधेरारभ्य केवलज्ञानम्। परोक्षं तु मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चेति। सर्वे दार्शनिकाः प्रमाणं स्वीकुर्वन्ति तेन स्वं स्वं पक्षं समर्थयन्ति। अतएव जगति प्रतिष्ठां लभन्ते। शून्यवादी बौद्धस्तु प्रमाणशून्यस्तर्हि-कथमिव तत्पदं लभेत। प्रामाणिका एव जनैर्मान्या भवन्ति न चापरे। तद्वत् सोऽपि पक्षसमर्थनाय प्रतिष्ठा-कामुकः सन् कमपि प्रमाणं स्वीकुर्यात्। तथा कृते तु तस्मै शून्यवाद-सिद्धान्तरूपः कृतान्तः (यमः) कुप्येत्। यथा स्वामी स्वेच्छानुगामिने सेवकाय कुप्यति। यदि स स्वामिवचनानुसारेण नैव प्रवर्त्तते, तदा तु क्रुध्यन्नसौ तस्य सर्वस्वं हरति।

अतः हे देवाधिदेव! जिनेश्वर! त्वदन्येन विद्वेषिणा यत्किञ्चिदपि शून्यवादरूपं मतं प्रत्यपादि तत् तूपहासकरं वच एवेति श्लोकार्थः।

शून्यवादिभिः प्रमेयमेव नास्तीति स्वीक्रियते। प्रमेयमस्तीति परिज्ञाय युक्त्या साध्यते–प्रमातुं योग्यं प्रमेयम्–यथार्थज्ञानविषयः। प्रपूर्वक मा धातो 'अचो यत्' इति कर्मणि यत् प्रत्यये 'ईद्यति' इति विभक्तिकार्ये प्रमेयम्-इति साधु। 'अनुविद्धमेव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते' वाक्यपदीयवचनात् शास्त्रं प्रमाणम्। सर्वे आगमाः शास्त्राणि च शब्दमयानि गीतायामपि प्रोक्तम्–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते, कार्याकार्य-व्यवस्थितौ।' परेऽपि विद्वांसः महाप्रमाणभूतस्वरूपं शास्त्रमाश्रित्य स्वपक्षं समर्थयन्ति। बौद्धाः स्वीकुर्वन्ति यत् सर्वे पदार्थाः शून्याः, प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण-प्रमिति-नामवास्तवत्वात्। प्रमाता (आत्मा) इन्द्रियैरग्राह्योऽत एव प्रत्यक्षाभावादात्मनः सिद्धिर्न भवति। अनुमानादपि आत्मा साधयितुमशक्यः, यतो हि केनापि हेतुनात्मनः सिद्धिर्न भवति।

आगमाः शास्त्राणि च परस्परं विरोधसम्पृक्तानि, अतः आगमप्रमाणेनापि आत्मनः सिद्धिर्न। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां बाह्यपदार्थानां सिद्धिर्भवितुं नार्हति। अविद्यया वासनयैव बाह्यपदार्थाम् अभावे घटपटादि-पदार्थानां ज्ञानमुदेति। अतएव, नास्ति प्रमेय किमपि वस्तु। प्रमेयाभावात् प्रमाणमपि नैव। प्रमाणाभावात् प्रमिति नेति। अतः

सर्वथा शून्यमेव वास्तविकं तत्त्वम् । अनुमानानुमेयात्मको व्यवहारो बुद्धिजन्यः । वस्तुतः बुद्धेर्बहिः सत् असद् वा नास्ति किमपि वस्तु । अतएव प्रोक्तम्–

**नासन्न सन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।**
**चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं, तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥**

अन्यच्च माध्यमिकाकारिकायाम्–

**न स्वतो नापि परतो, न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।**
**उत्पन्नजातु विद्यन्ते, भावाः क्वचन केचन ॥**

जैनैः पूर्वोक्तं बौद्धमतमुन्मतभाषितमिव न श्रद्दधते जनाः । यतो हि प्रमातृ - प्रमेय - प्रमाण - प्रमिति-प्रत्यक्षानुमानादीनां सिद्धिः प्रमाणैरेव भवति ।

'अहं दुःखी, अहं सुखी' इत्यत्र अहंपदेन प्रमाता (आत्मा) सिद्धयति । बाह्यपदार्थानां ज्ञानमनुभवात् सिद्धम् । बाह्यपदार्थानाम् अनुभवाद् वासना सम्भवा । अतएव प्रमेयम् अपि स्वीकार्यम् । प्रमेये स्वीकृते सति ज्ञानरूपक्रियाया अपि किमपि कारणं स्यात् । तस्मात् प्रमाणं सिद्धम् । यथा–कुलिशेन कुठारेण वा छिदिक्रिया तथैव ज्ञानरूपक्रियायाः कारणमावश्यकम् पदार्थज्ञाने पदार्थ-

विषयकाज्ञाननाशः एष प्रमाणस्य साक्षात् फलम् । अतएव प्रमितिरपि स्वीकार्या ।

शून्यवादिनः प्रमात्रादीन् प्रमाणेन अप्रमाणेन वा नैव साधयितुं शक्नुवन्ति । यतो हि शून्यवादिनां मते स्वयं प्रमाणस्याप्यवस्तुत्वात् । अतः शून्यवादिनां मतं निरस्तम् ।। १७ ।।

## – भाषानुवाद –

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य श्रीमद् हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज शून्यवादी सुगतमत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सभी तार्किक प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि स्वीकार करते हुए अपने-अपने पक्ष को सिद्ध करते हैं, किन्तु शून्यवादी बौद्ध तो बिना प्रमाण के ही अपने पक्ष को सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं । इस भावना से लिखा है कि– **'विना प्रमाणम् ।'**

❀ **श्लोकार्थ**–अन्य तार्किक प्रमाणों को स्वीकार करते हैं । अतः उनके मत की सिद्धि सम्भव है, किन्तु शून्यवादी बौद्ध बिना प्रमाण के अपने मत की सिद्धि नहीं कर सकते ।

यदि अन्य तार्किकों की भाँति प्रतिष्ठा प्राप्त करने की कामना से बौद्ध भी किसी प्रमाण को मानने की चेष्टा करें तो शून्यतारूपी स्वकीय सिद्धान्त ही यम बनकर उन पर कुपित हो जायेगा।

卐 **भावार्थ**–हे सर्वज्ञविभो जिनेश्वरदेव ! आपके मत के प्रति ईर्ष्याभाव रखने वालों ने जो कुछ भी कुमति रूपी नेत्रों से जाना है वह मिथ्या है, उपहास योग्य है।

प्रमाण अनेक प्रकार के हैं–**प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द** के भेद से चार प्रमाण नैयायिक को अभीष्ट हैं। प्रभाकर के मत में **अर्थापत्ति** भी प्रमाण है, सम्बन्ध को भी प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है। **श्रीजैनदर्शन-जैनमत में** दो ही प्रमाण स्वीकृत हैं–प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। अवधिज्ञान से लेकर केवलज्ञान पर्यन्त तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं।

वस्तुतः, प्रायः समस्त दार्शनिक प्रमाणों को स्वीकार करके अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हैं तथा संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। शून्यवादी बौद्ध तो प्रमाण को अंगीकार ही नहीं करता तो भला वह संसार में प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त कर सकता है? यदि वह प्रमाण को स्वीकार

करने की अभिलाषा (इच्छा) भी करे तो शून्यवादरूपी कृतान्त कुपित हो जाता है।

जैसे स्वामी की आज्ञा की अवहेलना करने वाले नौकर पर स्वामी क्रोध करता है, कभी स्वेच्छाचारी पर अधिक कुपित होकर वह उसका सर्वस्व छीन लेता है। ठीक इसी प्रकार शून्यवादी कृतान्त बौद्ध पर क्रोधित होकर उसकी सकल सामर्थ्य को क्षीण कर देगा।

'प्रमातुं योग्यं प्रमेयम्' यहाँ शाब्दिक संरचना इस प्रकार है–'प्र' उपसर्गपूर्वक 'माङ्' माने शब्दे च धातु से 'अचो यत्' सूत्र से कर्म में यत् प्रत्यय तथा 'ईद्याति' सूत्र से एत्व करके विभक्ति कार्य करने पर **'प्रमेयम्'** पद की सिद्धि होती है।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने कहा है–'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।' समस्त आगम तथा शास्त्र शब्दों से समृद्ध हैं। गीता में शास्त्रों की प्रामाणिकता के प्रसंग में कहा गया है कि यदि तुम्हें किसी कार्यअ-कार्य (कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य) के विषय में किसी प्रकार का भी सन्देह हो तो तुम्हें आगम-शास्त्रों को प्रमाण मानना चाहिए। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते, कार्याकार्य-व्यवस्थितौ।'

किन्तु बौद्ध तो आगम प्रमाण (शास्त्र-प्रमाण) को स्वीकार हो नहीं करता। अतः वह अपने सिद्धान्त को समर्थित भी नहीं कर सकता। फिर भी उसने अपने मत में कुछ इस प्रकार दलीलें दी हैं–

समस्त पदार्थ शून्य हैं, क्योंकि प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति अवस्तु हैं।

[१] प्रमाता (आत्मा) इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता, अतः प्रत्यक्ष से आत्मा की सिद्धि सम्भव नहीं है। अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना अनुमान नहीं हो सकता। साथ ही किसी भी हेतु से आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती। आगम (शास्त्र) परस्पर विरोधी हैं। अतः आगम प्रमाण भी आत्मा को सिद्ध नहीं कर सकता।

[२] प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से बाह्य पदार्थों की सिद्धि नहीं हो सकती है। अविद्या की वासना से ही बाह्य पदार्थों के अभाव में घट, पट इत्यादि पदार्थों की अवगति होती है। अतः प्रमेय भी कोई पदार्थ नहीं है।

[३] प्रमेय के अभाव में प्रमाण की सम्भावना ही नहीं है।

[४] प्रमाण का अभाव होने पर प्रमिति सम्भव नहीं। अतः सर्वथा (एकान्तरूप से) शून्य मानना ही तात्त्विक (वास्तविक) है। अनुमान और अनुमेय का व्यवहार बुद्धिजन्य है। वस्तुतः बुद्धि के बाहर सत् और असत् कोई वस्तु नहीं है। अत एव न सत्, न असत्, न सत्-असत् और न सत्-असत् का अभाव रूप ही वास्तविक है।

श्रीजैनदर्शन-जैनमत के अनुसार यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति, प्रत्यक्ष अनुमान इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध होते हैं। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि वाक्यों में 'अहम्' से प्रमाता (आत्मा) की सिद्धि होती है। साथ ही बाह्य पदार्थों के अनुभव से वासना बनती है। अतः प्रमेय को स्वीकार करना नितान्त अपेक्षित है। प्रमेय की सिद्धि होने पर प्रमाण को मानना भी आवश्यक है। जैसे कुठार से काटने की क्रिया होती है, वैसे ही जानने की क्रिया का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। पदार्थ को जानते समय पदार्थ सम्बन्धी अज्ञान का विनाश होना ही प्रमाण का साक्षात् फल है। अतः प्रमिति को भी आवश्यक रूप से स्वीकार करना चाहिए।

शून्यवादी प्रमाता आदि को प्रमाण अथवा अप्रमाण से कदापि सिद्ध नहीं कर सकते। अप्रमाण कुछ कर नहीं सकता, अतः अप्रमाण से प्रमाता आदि सिद्ध नहीं हो सकते। शून्यवादियों के मत में प्रमाण के अवस्तु होने के कारण प्रमाण से भी प्रमाता आदि की सिद्धि होना सम्भव नहीं है। जिस प्रमाण से शून्यवादी अपने पक्ष की सिद्धि करना चाहते हैं वह भी बिना प्रमेय के नहीं बन सकता, क्योंकि प्रमाण कदापि निर्विषयक नहीं होता। अतः शून्यवादियों का सिद्धान्त उपहास करने योग्य है ।। १७ ।।

[ १८ ]

इदानीं क्षणिकवादिन ऐहिकामुष्मिक व्यवहारानुपपन्नार्थसमर्थनमविमृश्यकारितं दर्शयन्नाह–

**卐 मूलश्लोकः–**

**कृतप्रणाशाकृत-कर्मभोग–**
**भवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।**
**उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्,**
**अहो ! महासाहसिकः परस्ते ।। १८ ।।**

**अन्वयः**–कृतप्रणाशदोषम्, अकृतकर्मदोषम्, भवभङ्गदोषम्, प्रमोक्षभंगदोषम्, (इत्येतान् दोषान् द्वन्द्वान्ते श्रूय-

माणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्यते) । साक्षात्, उपेक्ष्य, क्षण-भङ्गम्, इच्छन् ते, परः, अहो महासाहसिकः ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–कलिकालसर्वज्ञः श्रीहेमचन्द्राचार्यः सम्प्रति क्षणिकवादिसुगतमतं निराकरिष्णुराह–'**कृतप्रणाशेति** । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्धते' इति नियमः । प्रकृते कृतप्रणाशश्च अकृतकर्मभोगश्च भवभङ्गश्च प्रमोक्षभङ्गश्च स्मृतिभङ्गश्च एतेषां पञ्चानामितरेतरयोग-द्वन्द्वसमासः । ते दोषाः तान् । अतः दोषशब्दस्य प्रत्येकेन अन्वयः । परः प्रतिपक्षी क्षणिकवादी सुगतः केवलं क्षणिकवादं स्वीकरोति । हे प्रभो ! तन्मते एते पूर्वोक्ताः दोषाः अवश्यम्भाविनस्तथापि तान् उपेक्ष्य अनादृत्य तत्र गजनिमीलिकां कुर्वन् क्षणिकवादमेव समर्थयति । एवं सति महासाहसिकोऽसमीक्ष्यकारी कथ्यतेऽसौ धीधनैः । अहो परम् उपहासार्थम् उपहासपदार्थद्योतकमव्ययम् । यदि सिद्धान्तप्रवर्तकः सुगत एव दोषान् परिगण्य प्राकृत-जनवत् प्रवर्त्तते तदा तदनुयायिनां का कथा ? इति संक्षेपेणार्थसमन्वयः ।

एकैकपदमादाय पुनश्च विविच्यते–'**कृतप्रणाशेति**' । कृतस्य प्रणाशः स एव दोषस्तम् । कृतप्रकाशदोषम् । सर्वोऽपि जनो मत्कृता जनतोपकृतिश्चिरस्थायिनी स्यादिति-

धिया तां करोति। येन परेऽपि एवं जनतोपकारिणः स्युः। क्षणिकवादिमते जले कृतरेखावत् तदानीं प्रणष्टाः कथमसौ परोपकारी आसीत् इति व्यवहृतिः स्यात्ः अतः क्षणिकवादिमतेऽयं प्रथमो दोषः।

द्वितीयस्तु–'अकृतस्य भोगः'। नित्यात्मवादिमते यावन्न मुच्यते तावत् कृतानां शुभाशुभकर्मणां फलं सुख-दुःखादिः, तेनैव जीवेन भुज्यतेऽयं नियमः। न हि परकृतं परेण भुज्यते। तथा सति जगति को व्याप्रियेत ? यदि परकृतं फलमुपभुज्यते, तर्हि अयमेव दोषः–कोऽपि चौर्यं करोतु कोऽप्यन्यः कारागारं गच्छतु, नायं नियमः। यस्तथा करोति स एव कारागारिको भवति। कार्य-कारणयो-रेकाधिकारत्वं न तु व्यधिकरणम्। अयं द्वितीयो दोषः।

**'भवभङ्गदोषमिति'**–भवन्ति जनाः यस्मिन् स भवः। भूधातोः 'ऋदोरप्' इति सूत्रेण उवर्णान्तात् 'अप्' गुणावा-देशौ भवः-दृश्यं जगत् इति। बौद्धमते उत्पत्तिकाले भवन्त एव सर्वे पदार्थाः मूलतो विनष्टा एव तदा क्व भवः, विनष्टत्वात् ? कथं दृश्यं–द्रष्टुं योग्यम् कथ्यते। यो हि पदार्थः सन् स एव चाक्षुर्विषयो भवति। जनाः तं पश्यन्ति। अतो दृश्यं कथ्यते। न हि विनष्टं दृश्यते।

अपि तु पूर्वजानां मुखैः श्रूयते । अतो भवविनाशात् तदन्तरवर्त्तिनां क्षणिकवादिनामपि विनाशप्रसङ्गः, कः क्षणिकवादं प्ररूपयति ? तृतीयोऽयं दोषः ।

**'प्रमोक्षभङ्गमिति'** । प्रकृष्टो मोक्षः प्रमोक्षः सर्वकर्मणां मूलतोन्मूलनरूपम् । न हि मूलेन छिन्ना कापि लता प्ररोहति । स च मोक्षो यद्यप्यस्माभिर्न दृष्टस्तथाप्यनन्तज्ञानिभिः प्रतिपादितत्वात् । तदनुगामिभिः मुनिभिरागमरूपदिव्यालोकेन मोक्षो दृष्टोऽतो तत् स्वरूपं प्ररूपयन्ति । मोक्षोऽपि बौद्धमते क्षयिष्णुः स्यात्–इति चतुर्थो दोषः ।

**'स्मृतिभङ्गमिति'** । अनुभूतस्यैव निरुपेक्षं प्रयत्नजन्म-दृढ़तरसंस्कारवशात् कालान्तरे स्मृतिर्भवति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षं विनापि–'स्मरामि गिरिराजं यस्योपकण्ठे शत्रुञ्जया सरिद् वहतीति' । सुगतमते शरीरमेव आत्मा । तस्यापि तन्मतेन क्षणविनाशित्वात् । येन शरीरेणानुभूतं तद्विनष्टम्–इदमपरं शरीरमतो स्मृतिर्न स्यात् व्यधिकरणत्वात् । नित्यात्मवादपक्षे एव सायुज्यते । द्रष्टाः, अनुभवकर्त्ता, स्मर्त्ता एक एव आत्मा । येनानुभूतः तेन स्मृतोऽतः एकाधिकरणवृत्तित्वं तत्र घटते । एवमनात्मवादि-बौद्धमते स्मृतिज्ञानं न घटते । स्मृतेः स्थाने

सन्तानमपरं पदार्थं मत्वा एक सन्तानस्य अपरेण सन्तानेन कार्य-कारणभावे स्वीकृतेऽपि सन्तानक्षणानां परस्परभिन्नता तु तादवथ्यैवेति । सम्पूर्णक्षणानां परस्परं भिन्नत्वात् ।

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ–सर्वज्ञविभु** हे जिनेश्वरदेव ! भवदीय प्रतिपक्षी बौद्ध क्षणिकवाद की संस्थापना करके कृतकर्मों के फल को न भोगने, अकृत कर्मों के फल को भोगने के लिए बाध्य होने, परलोक के विनाश, मोक्ष के नाश, स्मरण-शक्ति का अभाव आदि दोषों की उपेक्षा करते हुए अपने क्षणिकवाद की स्थापना करने का दुस्साहस करते हैं । यह कितना हास्यास्पद है !

卐 **भावार्थ–'कृतप्रणाशेति'** । द्वन्द्व समास के अन्त में पृथक् से योजित पद का द्वन्द्व समास घटित समस्त पदों के साथ अन्वय होता है । यह व्याकरणशास्त्र का नियम है । अतः पूर्वोक्त दोषों में प्रत्येक पद के साथ 'दोषम्' पद की योजना अन्वय-प्रस्तुत रूप से की गई है ।

प्रत्येक व्यक्ति यह चाहते हुए जनकल्याण करता है कि–मेरी उपकृति चिरकालस्थायिनी रहे, जिससे अन्य लोग भी जानें कि वे परोपकारी थे । क्षणिकवादी बौद्ध

के मतानुसार तो जल में लकीर खींचने के समान वह उपकृति तत्क्षण ही विनष्ट हो जाती है तो फिर 'अमुक-व्यक्ति परोपकारी था' ऐसा व्यवहार कैसे हो सकेगा ? यह क्षणिकवादी के मत में प्रथमदोष है ।

**'अकृतकर्मेति'**–यह दूसरा दोष इस प्रकार है कि–नित्यात्मवादियों के मत में तो जीव, जब तक मुक्त नहीं होता तब तक स्वकृत शुभाशुभ कर्मों को वह (स्वयं) भोगता है । यह नियम है, किन्तु दूसरे के द्वारा किये गये कर्म को किसी अन्य को भोगने के लिए बाध्य होना पड़े तो यह सर्वथा नियमविरुद्ध होगा । ऐसा होने पर विश्व-जगत् के प्रति कौन अनुरक्त होगा ? दूसरे के द्वारा कृत कर्म के फल को भोगने में दोष तो सुस्पष्ट है कि, चोरी कोई करे और उसी अपराध के लिए अन्य जेल में जाये । यह बात नियमसंगत नहीं है । अपराधी को दण्ड प्राप्त हो–नियमतः यही होना चाहिए । अतः क्षणिकवादी बौद्ध के मत में यह दूसरा दोष है ।

**'भवभङ्गदोषम्'** । जिसमें मनुष्यादि उत्पन्न होते हैं, जन्म लेते हैं, वह **भव** कहलाता है । यह 'भव' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य स्वरूप है । उवर्णान्त 'भू' धातु से 'ऋदोरप्' सूत्र से अप् प्रत्यय गुण अवा देश, विभक्ति कार्य होने

पर 'भवः' पद की सिद्धि होती है। 'भवः' का तात्पर्य है दृश्यमान विश्व-जगत्। बौद्धमत में तो उत्पत्ति क्षण में भी उत्पन्न होते ही सभी पदार्थ मौलिक रूप से विनष्ट हो जाते हैं। तब भला उनके मत में तत् क्षण विनाश होने के कारण 'संसार' की स्थिति कैसे सम्भव है? वैसे फिर संसार देखने योग्य है। चाक्षुष विषयीभूत है। विनष्ट पदार्थ को आँखों से हम नहीं देखते अपितु पूर्वजों से उनके सन्दर्भ में सुनते हैं। ग्रन्थों का अध्ययन करके जानते हैं। मेरा तो कहना यह है कि यदि भव का विनाश ही हो जाता है (बौद्धमत में) तो फिर तदन्तरवर्त्ती क्षणिकवादी कैसे शेष रहते हैं, अपना क्षणिकवाद प्रस्तुत करने के लिए? यह तृतीय दोष है।

**'प्रमोक्षभङ्गम्'**। बौद्धमत में मोक्षभङ्ग नामक यह चतुर्थ दोष भी उपस्थित है, क्योंकि कर्मों का समूलोच्छेद रूप ही प्रमोक्ष है। मोक्ष को सम्प्राप्त आत्मा कदापि संसार-बन्ध में नहीं आता है। वह मुक्त सदा आनन्द स्वभाव में रमण करता है।

बौद्ध मत में जब आत्मा ही नहीं है तो परलोक में सुखी होने के लिए कौन कोशिश करेगा? क्षण मात्र निरन्वय विनाश को प्राप्त होने वाला संसारी ज्ञानक्षण भी

अन्य ज्ञानक्षण के सुखी होने का प्रयत्न नहीं करेगा, क्योंकि पूर्व और पर ज्ञानक्षणों में पारस्परिक कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता। यदि सब क्षणों में सुख-दुःख पहुँचाने वाली संतान को स्वीकार करें तो वह संतान ज्ञानक्षणों के अतिरिक्त कोई पृथक् वस्तु है तो उसे आत्मा ही कहना चाहिए। यदि संतान भी अवस्तु है तो वह अकार्यवादी है। क्षणिकवादियों के मत में अन्य ज्ञान क्षणबद्ध होता है तदन्यज्ञान क्षण की मुक्ति होती है। अतएव मोक्ष के अभाव का प्रसंग समुपस्थित हो जाता है।

यद्यपि मोक्ष हमने नहीं देखा है तथापि अनन्तज्ञानियों ने उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया है। आगमों के दिव्य आलोक में हम भी उस मोक्ष तत्त्व की अवगति करने में समर्थ होते हैं। हस्तामलकवत् समस्त तत्त्वदर्शी (सर्वज्ञ) यथार्थ प्रस्तुत करते हैं।

**'स्मृतिभङ्गदोषमिति'**। पूर्व अनुभूत पदार्थ की ही दृढ़तर संस्कारवश कालान्तर में स्मृति होती है। क्योंकि कहा भी है, **'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'**। जीवात्मा ने पूर्व में जो अनुभूति की है, उसको पुनः उद्बुद्ध संस्कारवश जो ज्ञान होता है–वह स्मृति पदार्थ है। सम्प्रति इन्द्रियसन्निकर्ष के बिना भी 'मैं स्मरण करता हूँ' उस

गिरिराज को जिसके पास '**शत्रुञ्जया**' नाम की पावन नदी बहती है। पूर्व जन्म के वृत्तान्त भो इस स्मृति के कारण ज्ञात होते हैं।

क्षणिकवादी सुगतमत में आत्मा भी क्षणविनाशी है। क्योंकि वे शरीर से पृथक् किसी आत्मा को स्वीकार नहीं करते। जिस शरीर ने अनुभव किया उसके विनष्ट हो जाने पर अन्य शरीर अवाप्ति पर भी स्मृति सम्भव नहीं है।

आत्मा का शरीर से अलग नित्यत्व स्वीकारने पर तो द्रष्टा, अनुभवकर्त्ता, स्मर्त्ता, एक ही आत्मा में संघटित हो जाते हैं, क्योंकि जिसने अनुभव किया उसी ने ही कालान्तर में स्मरण भी किया है अतः वहाँ एकाधिकरणवृत्तिता घटित होती है।

उक्त श्लोक के माध्यम से सारांशतः कहना यह है कि प्रत्येक वस्तु क्षणिक मानने पर बौद्ध मत में आत्मा पृथक् से पदार्थ नहीं रह पाता, तथा आत्मा के न रहने से संसार की स्थिति (व्यवस्था) भी समीचीन नहीं बन पाती; क्योंकि क्षणिकवादियों के मत में पूर्व और अपर क्षणों में कोई सम्बन्ध न होने से पूर्वजन्म के कर्मों का जन्मान्तर में फलभोग सम्भव नहीं।

बौद्ध अपने मत-स्थापन के सन्दर्भ में 'सन्तान' नामक एक पृथक् पदार्थ की योजना करते हैं। तदनुसार सन्तान का एक क्षण अन्य क्षण से सम्बद्ध होता है। मरण के समय होने वाला ज्ञान क्षण भी दूसरे विचार से सम्बद्ध होता है। अतः संसार की परम्परा सिद्ध होती है।

किन्तु यह स्थापना ठीक नहीं है, क्योंकि संतानक्षणों का पारस्परिक सम्बन्ध करवाने वाला कोई पदार्थ नहीं है जिससे दोनों क्षणों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो सके।

दूसरी बात यह है कि बौद्ध द्वारा आत्मा के स्वीकार करने पर मोक्ष सिद्ध नहीं होता, क्योंकि संसारी आत्मा के अभाव में मोक्षप्राप्ति किसे होगी ?

बौद्ध सम्पूर्ण वासना के नष्ट हो जाने पर भावना चतुष्टय से होने वाले विशुद्ध ज्ञान को मोक्ष कहते हैं।

किन्तु उनके क्षणिकवाद के कारण इस संदर्भ में भी कार्य-कारण भाव नहीं सिद्ध होता तथा अशुद्ध ज्ञान से अशुद्ध ज्ञान ही उत्पन्न होता है, विशुद्ध ज्ञान नहीं। जिस पुरुष (जीव) का बन्ध हो मोक्ष भी उसी को नियमानुसार प्राप्त होना चाहिए, किन्तु क्षणिकवादियों के मत में बन्ध

क्षण से मोक्ष का क्षण अन्य है, अतएव बद्ध पुरुष को मोक्ष नहीं मिल सकता। अनात्मवादी बौद्धों के मत में स्मृतिज्ञान भी दूसरा क्षण है। अतः एक बुद्धि से अनुभव किये हुए पदार्थों का दूसरी बुद्धि से स्मरण नहीं हो सकता। स्मृति के स्थान पर संतान को एक अलग पदार्थ मानकर एक संतान दूसरी संतान के साथ कार्यकारण भाव स्वीकार करने पर भी संतान क्षणों की पारस्परिक भिन्नता तो तब भी उसी प्रकार उपस्थित रहेगी। क्योंकि बौद्ध मत में समस्त क्षणों की पारस्परिक भिन्नता है ।। १८ ।।

[ १९ ]

अथ तथागताः क्षणक्षये सर्वव्यवहारानुपपत्तिं परैरुद्भावितमाकर्ण्येत्थं प्रतिपादयन्ति–

यत् सर्वपदार्थानां क्षणिकत्वेऽपि वासनाबललब्धजन्मना ऐक्याध्यवसायेन ऐहिकामुष्मिक - व्यवहारप्रवृत्तेः कृत-प्रणाशादिदोषाः निरवकाशा एवेति। तदाकूतं परितुं कामस्तत्कल्पित-वासनायाः क्षणपरम्परातो भेदाभेदानु-भयलक्षणे पक्षत्रयेऽप्यघटमानत्वं प्रदर्शयन् स्वाभिमतभेदाभेद-स्याद्वादमकामयमानानपि तान् अंगीकारयितुमाह–

**卐 मूलश्लोकः–**

**सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च,**
**नाभेद - भेदानुभयै - र्घटेते ।**
**ततस्तटादर्शिशकुन्त - पोत-,**
**न्यायात् त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ।। १९ ।।**

❀ **अन्वयः**–सा वासना, सा क्षणसन्ततिः च (एते द्वे अपि) अभेदभेदानुभयैः न घटेते । ततः परे तटादर्शि शकुन्तपोतन्यायात् त्वदुक्तानि श्रयन्तु ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–बौद्धा स्मृतिरन्यथोपपत्ति समर्थनाय परे द्वे कल्पने कल्पयन्ति एका वासना, अपरा सन्तान-परम्परा । ते द्वे अपि कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्येण युक्त्या निरस्ते । तयोर्मध्ये कतरो भेदः ?

मृगगतवासना-वासितवसनमेवाद्यविषये उदाहरणम् । वसनैकभागे क्वचिदपि कस्तूरिका भागः प्रक्षिप्यते न तु सर्वत्र तथापि सौरभं सर्वाणि वस्त्राणि मोदयति-सुरभितानि करोति तथैव कस्मिँश्चित् क्षणे निहिता वासना सा सर्वान् क्षणान् क्षणिकपदार्थान् वासयति तेन स्मृतेर्नानुपपत्तिः ।

सन्तान-परम्परा तु एका क्षीयमाणा दीपकलिका स्व-समानाकारान् अपरानपि क्षणान् जनयित्वैव प्रयाति । सापि अपरान् एवं क्रमेण द्वयोर्भेदो दर्शितो बौद्धैः ।

परिपक्वधिया विमर्शे कृते सति द्वेऽपि एका एव । यतो बौद्धमते सर्वे पदार्थाः क्षणिका एव तदा वासनया किमपराद्धम् ? सा कथं न तथा । साऽपि क्षणिकैव क्षणिकत्वादविशेषात् । दीपकलिकादृष्टान्तेन प्ररूपिता सन्तानपरम्परापि क्षणिकैव । न हि शब्दभेदेनार्थभेदो भवति । **घटः कथ्यतां कलशः कुम्भो वेति ।** अतः यथा बीजादिष्वात्मानमन्तरेणापि प्रतिनियमेन कार्यं तदुत्पत्तिश्च क्रमेण भवति, तथा प्रकृतेऽपि परलोकगामिनमेकं विनापि कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात् प्रतिनियतमेव फलं क्लेशकर्मसंस्कृतस्य संतानस्याविच्छेदेन प्रवर्त्तनात् परलोके फलप्रतिलम्भोऽभिधीयते । इति नाकृताभ्यागमो न कृतप्रणाशोपि बाधकम् ।

[बोधिचर्यावतार पंजिका पृ. ४७३]

बौद्धैरपि एकान्तक्षणिकवादमपहाय पूर्वोक्तदोषनिरसनाय परवादिभिरिव क्वचिन्नित्यत्वम्, क्वचिदनित्यत्वं स्वीकार्यम् । अर्थात् स्याद्वाद एव शरणम् । यथा जलपोतमन्तरा सागरोपरि उड्डीयमानः पक्षी नान्यत्र स्थानं लभते । जगति विषमता सर्वसम्मता । तस्याः केनापि कारणेन भाव्यम्, अन्यथैकत्व दोषापत्तिः । नीलं घटमानयेति प्रोक्ते यं कमपि घटानयने प्रयोक्तुरभिप्रायो न सिद्धयति । गुणभेदेन गुणिनो भिद्यन्ते एव । गुणा हि भेदकाः प्रोक्ताः ।

स्मृतिसमर्थनाय यावत्यः कल्पनाः बौद्धमतावलम्बिभिः कृताः सर्वा अपि कलिकालसर्वज्ञ-श्री हेमचन्द्राचार्यैः निराकृताः ।

तत्रैव हेतुः केऽपि पदार्थास्तन्मते (बौद्धमते) भिन्न-कालस्थायिनो न सन्ति । अनुभूतिः पूर्वकालावच्छिन्ना, तज्जन्यसंस्कारः चिरस्थायी परमतेन स च केनापि कारण-विशेषेणोद्बुध्य चिरकालेन भाविनीमपि स्मृतिं जनयति । आत्मनो नित्यत्वात्, तन्निष्ठसंस्कारोऽपि भूयो भूयो स्मृति-जनकत्वेन तत्र दार्ढ्यं जातम् । बौद्धमते वासनादि न चिरस्थायिनी क्षणिकत्वात् । दीपशिखया संतानपरम्परापि क्षणिकैव, अक्षणिकत्वे प्रतिज्ञाहानिः । अतः युक्त्या प्रमाणेन क्षणिकवादनिरसनमाचार्यस्य समुचितमेवेति ।।

## – भाषानुवाद –

❀ **श्लोकार्थ**–वासना और क्षणसन्तति परस्पर भिन्न, अभिन्न और अनुभय-तीनों प्रकार से सिद्ध नहीं होती है । इसलिए जिस प्रकार समुद्र में जहाज से उड़ा पक्षी समुद्र के किनारे को न देखकर (समुद्र का किनारा नहीं दिखाई देने के कारण) वापस जहाज पर ही लौटकर आश्रय लेता है । "जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पर आवै" उसी प्रकार अन्य उपाय के न होने के कारण सर्वज्ञ विभु हे जिनेश्वरदेव ! बौद्धलोगों को भी आपके अनेकान्तवाद-

स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेना श्रेयस्कर है। बौद्धों ने स्मृति को निज पक्षानुसार तर्कसंगत प्रतिपादित करने के लिए वासना एवं संतानक्षण की कल्पना की है, किन्तु कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराजश्री ने युक्तिपूर्वक सहजरीति से उनका खण्डन मौलिक श्लोक के माध्यम से कर दिया है।

बौद्धों का कथन है कि वस्त्र के किसी एक भाग में कस्तूरी का प्रक्षेप करने पर धारण किये गये समस्त वस्त्र सुरभित-सुगन्धित हो जाते हैं या प्रतीत होते हैं। ठीक इसी प्रकार वह वासना भी सभी क्षणिक पदार्थों को वासित कर देती है। अतः स्मृति के सन्दर्भ में अनुपपत्ति की स्थिति नहीं है। सन्तान-परम्परा क्षणिक होते हुए भी दीपशिखा की भाँति अन्य सन्तानक्षण को उत्पादित करके ही क्षीण होती है। इस प्रकार वासना एवं सन्तान में बौद्धों ने भेद भी प्रदर्शित किया है; किन्तु परिपक्व बुद्धि से विमर्श करने पर दोनों की स्थिति एक रूप में ही उजागर होती है।

बौद्धमत में सभी पदार्थ क्षणिक हैं तो वह वासना तथा दीपकात्मिका के माध्यम से प्रतिपादित सन्तान-परम्परा भी क्षणिक ही है। अक्षणिक होने पर तो

क्षणिकवाद की प्रतिज्ञा का ही उच्छेद हो जायेगा। वस्तुतः नाम भेद से भी कोई भिन्नता नहीं होती है। घट, कलश, कुम्भ पर्यायवाची शब्द मात्र होते हैं, भिन्न नहीं।

अतः बौद्धों को क्षणिकवाद का आग्रह छोड़कर पूर्वोक्त दोषों के परिहार के लिए श्रीजैनमतानुसार अर्हद् भाषित सार्वभौम स्याद्वाद सिद्धान्त को ही अंगीकार-स्वीकार कर लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त उनके लिए अन्य कोई आश्रय नहीं मिलता है। युक्तिपूर्वक क्षणिकवाद का खण्डन समुचित ही है।

श्रीजैनदर्शन-जैनमत का बौद्धों से संक्षेपतः प्रश्न यह है कि–वासना और क्षण सन्तति परस्पर अभिन्न हैं, भिन्न हैं या अनुभय हैं ? यदि वासना और क्षण-सन्तति को भिन्न मानें तो दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि भिन्न और अभिन्न दोनों विकल्प न मानकर भिन्न-अभिन्न मानते हो तो अनेकान्त (स्याद्वाद) को छोड़कर अन्यवादियों के मत में भेद और अभेद के अतिरिक्त श्रेयस्कर कोई अन्य तृतीय पक्ष नहीं हो सकता है ॥ १६ ॥

[ २० ]

एवं क्रियावादिनां प्रावादुकानां कतिपयकुग्रह-निग्रहं विधाय साम्प्रतमक्रियावादिनां लौकायतिकानां मतं सर्वामत्वादन्ते उपन्यस्यन् तन्मतमूलस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादि प्रमाणान्तरानङ्गीकारेऽकिंचित्करत्व-प्रदर्शनेन तेषां प्रज्ञायाः प्रमादं प्रदर्शयति–

卐 **मूलश्लोकः–**

**विनानुमानेन पराभिसन्धिम् ,**
**असंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।**
**न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा ,**
**क्व दृष्टमात्रं च हहा प्रमादः ॥ २० ॥**

❀ अन्वयः–अनुमानेन विना, पराभिसन्धिम्, असंविदानस्य, नास्तिकस्य तु वक्तुं अपि, साम्प्रतम्, न । क्व चेष्टा, क्व च दृष्टमात्रम् ? (अतः) हहा प्रमादः ।

卐 स्याद्वादबोधिनी–'**विनानुमानेनेति**' । अयं भावः–अनुपश्चान्मीयते–परिछिद्यते ज्ञायते इत्यनुमानम् । अनुपूर्वक मा धातोः करणे ल्युटि । अनुमानं व्याप्तिज्ञानं तेन अनुमानेन ।

परप्रत्ययार्थं स्वशङ्कानिरासार्थमनुमानं स्वीकार्यम् । तेनाभीष्टसिद्धिः किन्तु **चार्वाकस्तु** एकम् प्रत्यक्षं प्रमाणं मनुते । 'नहि एकेन चक्रेण रथो गच्छति' । न चापि केवलेन कारणेन कार्यस्य सिद्धिर्दृष्टा । चारु मनोज्ञं यथा स्यात् तथा आवक्ति इति चार्वाकः । अण्प्रत्यये यणादेशे 'यजोः कुधिण्यतोः' इति ककारः । यो दृश्यमात्रं प्ररूपयति स चार्वाकः कथ्यते । गतं, भाविनं च केन दृष्टं यत् प्रत्यक्षं तदेव सत् । तेन स चार्वाकः । इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । तदेव परमार्थ-स्तन्मते न तु अतिक्रान्तं नापि भावि, अतो नास्ति परत्र परलोके मतिर्यस्येति नास्तिकः । 'अस्ति नास्ति दृष्टं मतिः' इति सूत्रेण निपातनात् नास्तिकः । यदि अनुमानं प्रमाणं बौद्धो नैवाङ्गीकरोति तर्हि तत् कृते प्रश्नः–

भवतां मते अदृष्टा देशान्तरे वर्त्तमाना पदार्थाः सन्ति न वा । यदि न सन्ति तर्हि कथमुपलभ्यन्ते ? सन्ति चेत्, कथं भवता ज्ञायन्ते । अनुमानवादिना तु अदृष्टमपि कार्यमनुमीयते । यद्-यद् कार्यं तत्-तत् कर्तृजन्यं यथा पुरोवर्त्तिघट-पटादिरूपं कार्यम् कुम्भकारेण तन्तुवायेन जन्यमानं चाक्षुषप्रत्यक्षविषयमपि तथैव अचाक्षुषमपि क्वापि कार्यस्योत्पत्ति स्वयमेव दृश्यते । कार्यत्वाऽविशेषात्

तेन स्वमनुमाय परार्थमपि स बोधयितुं क्षमः तथा भवान् । यत् प्रत्यक्षं तदेव परप्रत्ययार्थं बोधयितुं त्वयि शक्तिरस्ति ।

अपरञ्च तव पूर्वजाः प्रपितामहादयः आसन् न वा । यदि नासन् तव पितामहः पिता वा जलवत् मेघात् पतितः । आसन् चेत् कथं ज्ञायते ? प्रत्यक्षज्ञानाभावात् । अनुमाने स्वीकृते तु पितापदेन व्यवह्रियते । अतः प्रमितिकरणात् अनुमानं प्रमाणम् ।

अस्मिन् जगति केचन धनिनः, केचन दीनाः, केचन दातारः परे भिक्षुकाः । रोगिणः, स्वस्थाः तस्य किं कारणम् ? धर्मात् सुखम्, अधर्मात् दुःखम् । यो हि जन्मान्तरे विपुलधर्मवान् स सर्वोऽपि आगामिभवेऽतिशयेन सुखभाग् भवतीति व्याप्तिः । तथा अयं पुरुषो जन्मान्तरीय विशिष्टपुण्यवान् विनाऽन्तरायं सदैव सुखानुभवात् ।

चार्वाकमते चैतन्यम् आत्मा इति न किन्तु शरीरमेव तर्हि पञ्चभूतसमुदायजन्यं शरीरं तत्र ज्ञानाऽभावेन 'अहं वेद्मि' इति कथं प्रत्ययः, एवं यत्र यत्र पञ्चभूतसमुदायजन्यं शरीरं तत्र ज्ञानाऽभावेन 'अहं वेद्मि' इति कथं प्रत्ययः, एवम् 'यत्र यत्र पञ्चभूतं तत्र तत्र चैतन्यमुत्पद्यते

यथा सुरायां मादकतोत्पद्यते तथा प्रकृतेऽपि'-तदप्यसंगतम् । सुरोत्पादकेषु मधूककुसुमगुडादिषु सूक्ष्मं तद्विद्यते तेषां समवाये व्याप्यमाना सा प्रतीयते । अतएव अतिपरिश्रमेण श्रान्तेषु घोटकेषु तैः भुज्यमाना मधूकादयः सद्यः श्रमं नुदन्ति । भूतादिपञ्चसु कुत्रापि स्वल्पमपि चैतन्यं नैव लभ्यते येन समुदितेषु प्रादुर्भाव्यमाना कल्पेत । अपरञ्च व्याप्तिमाश्रित्य भवतानुमानं कृतं तदा प्रतिज्ञाहानिः–अनुमानं प्रत्यक्षाद् भिद्यते । धूमेन लिङ्गेन अहमपि पावकमनुमिनोमि-इति प्रतीतिर्जायते, न प्रत्यक्षामि-इति ।

अन्यदपि दूषणम्–चेष्टा शून्या सुषुप्तिः कथ्यते । प्रगाढनिद्रायां सर्वाणि-इन्द्रियाणि स्वान्-स्वान् विषयान् विहाय स्वरूपमात्रेणावतिष्ठन्ते । स्वप्नान्तरं कथमवबोधो भवताम् ? नायं दोषो, ज्ञानविषये-द्विधा नियमः । आलयविज्ञानधारा प्रवृत्तिविज्ञानधारा जाग्रदवस्थायां प्रवृत्तिविज्ञानधारा, स्वापे आलयविज्ञानधारा तयोः स्वापानन्तरं सर्वं सम्पद्यते-इत्यपि नैव युक्तिसंगतम् । यत्र यत्र विज्ञानं तत्र तत्र विषयावभासः । अयं नियमः–तस्यां दशायां कस्यापि विषयस्य अवबोधो न जायते । सर्वाकल्पना विफला । अतश्चेतनाशक्तिर्न भौतिकविकाररूपा अपि । 'आत्मा' स्वतन्त्रः पदार्थो मन्तव्यः ।। २० ।।

## – भाषानुवाद –

क्रियावादियों के सिद्धान्तों का खण्डन करके, अक्रिया-वादी (अनात्मवादी) लोकायत मत (चार्वाक) का खण्डन करते हुए कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वर जी महाराज अनुमान आदि प्रमाणों के बिना प्रत्यक्ष प्रमाण की असिद्धता बताकर चार्वाकों की बुद्धि की मन्दता प्रकट करते हैं–

❀ **श्लोकार्थ**–अनुमान के बिना लोकायत (चार्वाक) दूसरे के अभिप्राय को समझ भी नहीं सकते। इसलिए चार्वाकों को बोलने का उपक्रम भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि चेष्टा और प्रत्यक्ष दोनों में बहुत भिन्नता है। सर्वज्ञविभो हे जिनेश्वरदेव ! यह उनकी बुद्धि का कितना प्रमाद है।

卐 **भावार्थ**–'**विनानुमानेनेति**'। चार्वाक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों के विषय के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ ही नहीं है। अनु शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति है–अनु=पश्चात्, मीयते=परिच्छते इति अनुमानम्।

श्रीजैनदर्शनानुसार भी यह अनुमान दो प्रकार का होता है–स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जैसा कि

'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में भी लक्षण प्रस्तुत किया गया है–'अनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र हेतुग्रहण सम्बन्ध-स्मरण कारणं साध्यविधानं स्वार्थम्। पक्षहेतु-वचनात्मकं परार्थानुमानमुपचारात्। [३/१०/२३ प्रमा०]

अर्थात् जिसके द्वारा अविनाभाव सम्बन्ध के स्मरण के साथ ही देश, काल और स्वभाव सम्बन्धी दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान होता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं तथा परार्थानुमान में अन्य को समझाने के लिए (अनुमान करवाने के लिए) पक्ष और हेतु का प्रयोग किया जाता है। अनुमान के बिना कोई दूसरे अभिप्राय को नहीं समझ सकता। अतएव अनुमान आदि को प्रमाण न स्वीकार कर मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करने वाले चार्वाकों को तो प्रामाणिक पुरुषों के समक्ष बोलने का दुस्साहस ही नहीं करना चाहिए।

चार्वाक पूर्णतः नास्तिक है, क्योंकि परमात्मा-परमेश्वर में उसकी आस्था नहीं है। ऐसे नास्तिक का प्रतिपादन कितना हास्यास्पद है।

सारांशतः चार्वाकों के प्रति हमारा प्रश्न यह है कि जो पदार्थ देशान्तर में विद्यमान है तथा आप उन्हें नहीं प्रत्यक्ष कर पा रहे हो तो प्रत्यक्षलभ्य न होने के कारण

आप उनका ज्ञान कैसे कर पायेंगे। अनुमान प्रमाण स्वीकार करने वाले दार्शनिक तो अपने मत की पुष्टि कर सकते हैं, किन्तु आप तो स्वयं भी उसकी अवगति नहीं कर सकते, दूसरों को प्रबोधित करना (ज्ञात करवाना) तो दूर की बात रही। दूसरी बात यह है कि आपने अपने पूर्वजों को नहीं देखा है। फिर उनके बारे में आप कैसे यथार्थ रूप से कह सकते हैं। प्रत्यक्ष तो उनका हुआ नहीं है।

**अस्मिन्निति**–इस संसार में जो धनी, कुछ दीन (गरीब), कुछ दानी, कुछ भिखारी, कुछ रोगी हैं। उनका क्या कारण है? हमारे मत में तो धर्म से सुख तथा अधर्म (पाप) से दुःख की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति पूर्वजन्म में अत्यधिक पुण्यशाली रहा, वह आगामी जीवन में अतिशय सुखी होता है। अन्तराय के बिना सदा अनुभव करने के कारण ऐसा अनुमान सम्भव है।

चार्वाक आत्मा को स्वीकार न करते हुए कहता है कि, जिस प्रकार शराब (दारु) आदि में मादक शक्ति पैदा होती है, वैसे ही पृथिवी आदि पदार्थों से 'चैतन्य' की उत्पत्ति होती है। पञ्चभूत रूपी शरीर के विनाश हो जाने पर चैतन्य भी विनष्ट हो जाता है। अतः आत्मा के अभाव में धर्म, अधर्म, पुण्य और पाप की अवस्था भी सिद्ध नहीं होती है। अतः श्रीजैनदार्शनिकों का कथन यह

है कि यदि मादक शक्ति की तरह चैतन्य को पाँच भूत का विकार स्वीकार किया जाये तो जैसे–मादक शक्ति, प्रत्येक मादक पदार्थ (महुश्रा) श्रादि में पाई जाती है, वैसे ही चैतन्यशक्ति को भी प्रत्येक वस्तु में सत्तात्मक रूप से स्वीकार करना पड़ेगा। साथ ही यदि पृथिवी श्रादि चैतन्य की उत्पत्ति है तो मुर्दे (शव) में चेतना का श्रभाव क्यों स्वीकार किया जाए ? उसमें पंचमहाभूतों की उपस्थिति में चैतन्य संवलित मानना चाहिए, किन्तु ऐसा व्यवहार कदापि नहीं होता। हमारे मत में तो पृथ्वी श्रादि से चैतन्य विजातीय है। श्रतः चेतना (श्रात्मा) को भौतिक विकार कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥ २० ॥

[ २१ ]

श्रीजिनेश्वरोक्तां उत्पादादि त्रिपदीमवलम्ब्येमां कारिकामवतारयन् श्राचार्यः प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवादं येऽवमन्यन्ते तेषामुन्मत्ततां प्रकटयन्नाह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**प्रतिक्षणोत्पाद–विनाशयोगि-**
**स्थिरैक–मध्यक्षमपीक्षमाणः ।**
**जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः,**
**स वातकी नाथ पिशाचकी वा ॥ २१ ॥**

❀ **अन्वयः**–हे नाथ ! हे जिन ! प्रतिक्षणोत्पाद-विनाशयोगि, स्थिरैकम्, अध्यक्षम्, ईक्षमाणः, अपि, यः, त्वदाज्ञाम्, अवमन्यते, सः, वातकी, पिशाचकी (इव) वा ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी–प्रतिक्षणेति ।** प्रतिक्षणं-प्रतिपलम् । बौद्धा उत्पादानन्तरमेव पदार्थाः मूलतो विनश्यन्तीति स्वी-कुर्वन्ति । जैनास्तु श्रीजिनेश्वर-तीर्थङ्कर-प्रवचनानुगामिनो भवतः आदेशं परिपालयन्ति-प्रसारयन्ति । त्रिलोके त्रिकालवर्त्ति वस्तु दिव्येन केवलज्ञानेन चक्षुषा ज्ञात्वा यथार्थं वस्तुस्वरूपं ते प्रवदन्ति । अतः पूर्ववस्तु-कारण-कलापजन्यं तस्य फलमुपभोगः । स्थितानामेव उपभोगो भवति न तु विनष्टानाम् । अतो वस्तूनि कियत् काल-पर्यन्तं तिष्ठन्ति । उत्पादवतां विनाशो भवत्येव । यत्र-यत्र जन्यत्वं तत्र-तत्र प्रतिकूलकारणसमवधाने विनाशः इति नियमः ।

कर्माणि फलानि दत्वैव निर्जरन्ति, आरोपितः पादपः फलं कालान्तरे प्रयच्छत्येव अतस्त्रयो अवस्था पदार्थानाम् । एवं प्रत्यक्षवादिनः पश्यन्तोऽपि न मन्यन्ते । भवतामाज्ञां ते भूतावेशग्रहिलाः वातरोगेणाभिभूताः यथा तथा प्रवदन्तो भगवन्तं विरोधयन्ति, मुग्धान् जनान् प्रवञ्चयन्ति । इति संक्षेपण कारिकार्थः ।

तदभिन्ना चैकान्तवादिनश्चैवं कथयन्ति–

**भोगार्थाः विषयाः सृष्टाः ब्रह्मणा भूरियत्नतः ।**
**प्रकृतिश्चापि भोगाय पदार्थान् जनयत्यहो ।।**
**कृषीवलः पांसुलेऽपि धान्यं वपति भुक्तये ।**
**सौगतानुगता एव विनाशाय कृतोद्यमाः ।।**

ते त्वदाज्ञामवहेलयन्ति । **जिन इति ।** साभिप्रायोऽयं प्रयोगः राजानो हि निजाज्ञां रागादिना प्रवर्तयन्ति । भगवतो जिनेश्वरस्य आज्ञां तु स्वयमेव जनाः शिरसा वहन्ति । कुतः ? रागादीन् जयति, अजैषीत्, जेष्यति, वेति जिनः । जि धातोः औणादिको नक् प्रत्ययः, कित्वाद् गुणाभावः ।। २१ ।।

**– भाषानुवाद –**

सर्वज्ञविभु श्रीजिनेश्वर भगवन्त-भाषित त्रिपदी 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं वस्तुतत्त्वम्' का आलम्बन लेकर कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वर जी महाराज एकान्त-वाद का खण्डन प्रस्तुत करते हुए अनेकान्त को स्पष्टरूप से देखते हुए भी उसकी अवहेलना करने वालों की उन्मत्तता को प्रदर्शित करते हैं–

❀ **श्लोकार्थ**–हे नाथ ! हे जिनेश्वर ! प्रत्येक क्षण में उत्पन्न-विनाश होने वाले पदार्थों को प्रत्यक्षतः स्थिर देखकर भी वातरोगी अथवा भूतबाधा से पीड़ित व्यक्ति के समान अनर्गल प्रलाप करने वाले लोग आपकी महनीय आज्ञा की अवमानना करते हैं।

卐 **भावार्थ**–बौद्धदार्शनिक प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानते हैं। उनकी मान्यता यह है कि प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति के अनन्तर विनष्ट हो जाती है। किन्तु श्रीजैनदार्शनिक अनन्तज्ञान-दर्शन-चारित्रादिक के धारक यथार्थवेत्ता सर्वज्ञविभु श्री अरिहन्त भगवन्त-भाषित आज्ञा का पालन करते हुए पदार्थ की वास्तविक स्थिति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। श्रीजैनधर्म के मतानुसार '**उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्**' अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही पदार्थ का लक्षण है।

श्रीजैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु-पदार्थ में उत्पत्ति और विनाश होते रहते हैं। अतः पर्याय की अपेक्षा वस्तु-पदार्थ अनित्य है, तथा उत्पत्ति और विनाश के मध्य पदार्थ की स्थिरता भी होती है, जिसका ज्ञान हमें स्पष्ट रूप से होता ही रहता है। अतः द्रव्य की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु-पदार्थ नित्य है।

श्री जैनदर्शन (दृष्टिकोण) में अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की स्थिति है। अतः प्रत्येक वस्तु स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य भी है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न होकर भी श्रीजैनमत में सापेक्ष हैं। बौद्धदर्शन के अतिरिक्त वेदान्तदर्शन आदि एकान्तवादी भी वस्तु तत्त्व को सर्वथा नित्य मानते हैं तथा कहते हैं कि ब्रह्मा ने सभी वस्तु-पदार्थ भोग के लिए बनाये हैं। सांख्यमत में प्रकृति भी वस्तु-पदार्थों को भोगार्थ ही उत्पन्न करती है। उपभोग के लिए ही मिट्टी में बीज बोता है। इत्यादि स्वमतपोषक वार्ताओं से आपके सार्वभौम अनेकान्तवादी सिद्धान्त की अवहेलना करते हैं।

वस्तुतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संवलित पदार्थ-लक्षण सभी को सश्रद्ध स्वीकार करना चाहिए ॥ २१ ॥

[ २२ ]

अथान्ययोगव्यवच्छेदकस्य प्रस्तुतत्वात् आस्तां तावत् साक्षाद्, भवान्, भवदीय प्रवचनावयवा अपि परतीर्थिक-तिरस्कारबद्धकक्षा इत्याशयवान् स्तुतिकारः स्याद्वादव्यवस्थापनाय प्रयोगमुपन्यस्यन् आह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वं ,**
**अतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।**
**इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि–**
**कुरङ्ग - संत्रासनसिंहनादाः ।। २२ ।।**

❀ **अन्वयः**–तत्त्वम्, अनेक-धर्मात्मकम्, एव अतः, अन्यथा, सत्त्वम्, असूपपादम् । इति ते प्रमाणानि अपि, कुवादिकुरङ्गसंत्रासन सिंहनादाः (सन्ति) ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–तस्य भावः तत्त्वम् । बुद्धिस्थ-परामर्शको हि तत् शब्दः । स च कर्त्तुरधीनः । यावन्त-मिच्छति तावान् गृह्णीयात् । पतञ्जलिनापि प्रोक्तं-वस्तु वा पदार्थसार्थो वा अनन्तधर्माः । नित्यानित्यादयः एक-कालावच्छेदेन वसन्ति यस्मिन् तत् वस्तु । स पदार्थः ।

**अनेकधर्मात्मकम्** - **अनेके** धर्माः जीवाऽजीवादयो नित्यत्वम् अनित्यत्वम् अपेक्षारूपेण कालादिभेदेन अस्तित्वं नास्तित्वमित्यादयो यत्र तत् अनेक धर्मात्मकम् - बहुव्रीहिसमासः । अत्र आत्मशब्दः स्वरूपपरः शब्दशक्तिस्वभावात् । श्रीजैनदर्शनमते सर्वं स्याद्वादात्मकम् । स्यादिति विभक्तिप्रतिरूपकम्

अव्ययम् । क्रियावाचकत्वे समासो न स्यात् । नाम नाम्ना-समस्यते न तु तिङा । तथैव पदार्थोपलब्धिः । घटो द्रव्यम्, पृथिवी मृद्विकारः, जलाधारः । घटते कर्मणि परप्रेरित-प्रवर्त्तते इति घटः । उत्पद्यते तिष्ठति प्रतिकूलदण्ड-पाषाणादिसंयोगेन विनश्यते । स्वोपादाने कपाले उत्पद्यते, तत्रैव विलीयते । विशालदृश । विवेचने कृते सर्वे पदार्था-स्तथा । 'न हि गौः गौरेव सर्वान् प्रति' इति भाष्यकारः पतञ्जलिः । धार्मिका एव गाः पूजयन्ति सम्मानयन्ति, न तु यवनास्ते तु भक्षयन्ति, व्याघ्रादयोऽपि । एवं स्थाली-पुलाकन्यायेनैका रीतिः प्रदर्शिता । पूर्वोक्तप्रकारव्यतिरेकेन वस्तुस्वरूपं महतामपि प्रयासेन भारत्यापि प्रतिपादयितुम-शक्यमन्यस्य तु का कथा । यथा प्ररूपिता भगवता श्रीजिनेश्वरेण प्रमाणेन न्यायेन युक्त्यां तदेव पर-मार्थभूतम् ।

पदार्थेषु अनन्तधर्मस्वीकारं विना पदार्थे पदार्थत्वं न सिद्धयति । यो हि अनन्तधर्मात्मको न, नैव स सत् यथा-आकाशः । अत एव जीवाऽजीव-धर्माधर्माकाशकालादि-समस्तद्रव्येषु अनन्तधर्मात्मको न, नैव स सत्-यथा-आकाशः । अत एव जीवाऽजीव-धर्माधर्माकाशकालादि-समस्त-द्रव्येषु अनन्तधर्माः स्वीकरणीया इति श्रीजैनसिद्धान्तः ।। २२ ।।

## – भाषानुवाद –

सर्वज्ञविभु श्रीअरिहन्त परमात्मा के द्वारा प्रतिपादित प्रामाणिक उपदेश कुतर्कवादियों को पराजित करने में समर्थ है। अतः कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य महाराज कहते हैं–

❀ **श्लोकार्थ**–प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्मों की सत्ता है, क्योंकि–वस्तु में अनन्तधर्म स्वीकार किये बिना वस्तु की सिद्धि सम्भव नहीं है। अतः आपके प्रामाणिक वाक्य कुवादियों रूपी हिरणों को डराने के लिए सिंहगर्जना के समान हैं।

卐 **भावार्थ–तस्य भावः तत्त्वमिति।** 'तत्' शब्द बुद्धिस्थ पदार्थ का परामर्शक होता है। और वह वक्ता (कर्त्ता) के अधीन होता है। तत् शब्द के माध्यम से जितने विषय को ग्रहण करना चाहता है, उतने का ही ग्रहण होता है। यहाँ तत्त्व शब्द का प्रयोग पदार्थ के लिए किया गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी प्रस्तुत प्रसंग से मेल खाती बात कही है कि पदार्थ सार्थ में अनन्त धर्म नित्य, अनित्यादि एककालावच्छेद (एक ही समय में) उपस्थित रहते हैं। वस्तु या पदार्थ की व्युत्पत्ति भी तभी संगत होती है कि–'एककालावच्छेदेन वसन्ति

नित्याऽनित्यादयोऽनेके धर्मा यस्मिन् तत् वस्तु'। एक ही समय में नित्य और अनित्यादि अनेक धर्म जिसमें रहते हैं, उसे '**वस्तु**' कहते हैं। 'अनन्तधर्मात्मकमिति' अनेक धर्म अर्थात् जीव-अजीव, नित्यत्व-अनित्यत्व अपेक्षा रूप से विद्यमान हैं जिसमें, उसे अनेकधर्मात्मक कहते हैं। वह स्थिति बहुव्रीहि समास करने पर स्पष्ट हो जाती है। उक्त पद में बहुव्रीहि समास है।

शब्दशक्ति स्वभाव के कारण यहाँ आत्मा शब्द 'स्वरूप' का वाचक है। श्रीजैनदर्शन-जैनमत में सर्वत्र स्याद्वादात्मक स्थिति अवारित रूप से प्रवर्तमान है। 'स्यात्' पद से विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है। यदि उसे क्रियावाचक मानें तो समास सम्भव न होगा। क्योंकि कहा भी है–नाम का नाम (प्रतिपदिक) के साथ समास होता है, तिङन्त के साथ नहीं। 'अनन्तधर्मात्मक' शब्द में आत्मा शब्द से अनन्त पर्यायों में विद्यमान नित्य धर्म का अभिप्राय प्रगट होता है। इसीलिए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही 'सत्' है अर्थात् द्रव्य का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि यदि पदार्थों में अनन्त धर्म स्वीकार नहीं करें तो वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसीलिए प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक/अनन्त धर्मात्मक है। जो

अनन्त धर्मात्मक नहीं होता वह सत् नहीं होता। अतः जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल आदि सम्पूर्ण द्रव्यों में अनन्त धर्म मानने चाहिए ॥ २२ ॥

[ २३ ]

अनन्तरमनन्तधर्मात्मकत्वं वस्तुनि साध्यं मुकुलितमुक्तम्। तदेव सप्तभङ्गीप्ररूपणाद्वारेण प्रपञ्चयन् भगवतो निरतिशयं वचनातिशयं च स्तुवन्नाह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**अपर्ययं वस्तु समस्यमानं,**
**अद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्।**
**आदेशभेदोदित - सप्तभङ्गं,**
**अदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ॥ २३ ॥**

❀ **अन्वयः**–समस्यमानम् वस्तु अपर्ययम् एतत् च विविच्यमानम् अद्रव्यम्। (हे जिनेश्वर!) त्वम् बुधरूपवेद्यम्, आदेशभेदोदित सप्तभङ्गम्, अदीदृशः।

卐 **स्याद्वादबोधिनी**–परे विद्वांसः सप्तभङ्गीं नाङ्गीकुर्वन्ति। तेऽपि स्वीकुर्वन्तु तदर्थं श्लोकमवतारयति-**अपर्ययमिति**। संक्षेपतो वस्तुकथने पर्य्यायाः अविवक्षिता

गौणा भवन्ति। श्रीजैनदर्शने-जैनमते षड्द्रव्याणि धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवरूपाणि, गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।

"केषाञ्चिदाचार्याणां मते पञ्चास्तिकाया एव। कालो द्रव्यं पृथक् नास्ति। जीवादिवस्त्वपि कदाचित् कालशब्देन उच्यते।" तथा चागमः 'किमयं भंते कालोत्ति पवुच्चइ, गोयमा जीवा चेव अजीवा चेवत्ति।' अन्ये तु संगिरन्ति। अस्ति धर्मास्तिकायादिद्रव्यपंचकव्यतिरिक्तम्। अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्त्ति षष्ठं कालद्रव्यं चात्रबन्धा एते ह्यः श्वः इत्यादयः प्रत्यया शब्दाश्च प्रादुर्भवन्ति। आगमश्च–"कइणं भंते दव्वा पण्णत्ता? गोयमा? छ दव्वा पण्णत्ता। तं जहा–धम्मात्थिकाये अधम्मात्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलात्थिकाए, जीवात्थिकाए अद्धासमये य।"

इति सर्वमाचार्य - श्रीहरिभद्रसूरिकृतवर्मसंग्राहिण्यां श्रीमलयगिरिटीकायां द्वात्रिंशत्यां गाथायामपि विशदरूपेण व्याख्यातम्। पर्ययः, पर्यवः, पर्यायः इति शब्दाः पर्यायवाचिनः।

ननु भगवता त्रिभुवनोपकारिणाऽरिहन्तेन निर्विशेषतया सर्वेभ्यः सप्तभङ्गीनयः प्रदत्तः, प्रदर्शितो वा। तदा कथं

नान्यमतावलम्बिनः प्रतिपद्यन्ते ? बुध्यन्ते यथार्थं वस्तुतत्त्वमिति बुधाः। सप्तभङ्गनयतत्त्वं सूक्ष्मतः नैसर्गिकतया वेदिन एवोत्कृष्टाः विद्वान्सः वेत्तुम् अर्हन्ति। न तु अविद्या वासना वासिताः कुण्ठितबुद्धयः। अनादिकालतोऽविद्यासंस्कारात् मिथ्यादार्शनिकानां बुधरूपत्वाभावान् नैवाधिगमः। तथा च प्रोक्तमागमे–

**सदसदविसेसणा उ भवहेउजहिट्ठिओवलंभाउ।**
**णाणफलाभावा उ मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं॥**

**संस्कृतच्छाया–**

**सदसद्विशेषणतः भवहेतु यथास्थितोपलम्भात्।**
**ज्ञानफलावान् मिथ्यादृष्टे - रज्ञानम्॥**

[विशेषावश्यकसूत्रे–११५]

अथ केऽमी सप्तभङ्गाः ? तत्रोच्यते तावत्–

(१) स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः।

(२) स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयो भङ्गः।

(३) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति विधि - निषेधयुतकल्पनया तृतीयो भङ्गः।

(४) स्यादवक्तव्यमेवेतियुगपद् विधिनिषेध कल्पनया चतुर्थो भङ्गः ।

(५) स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमो भङ्गः ।

(६) स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठो भङ्गः ।

(७) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्याद् वक्तव्यमेवेति क्रमतो विधि-निषेधकल्पनया युगपद्विधि-निषेधकल्पनया च सप्तमो भङ्गः ।

प्रमाणनयवाक्ये च क्रमशः सकलादेशविकलादेशाभ्यां शब्दाभ्यां श्रीजैनदर्शने व्यवहृते स्तः । सकलादेशाः विकलादेशाश्च प्रमाणसप्तभङ्गात्, नयसप्तभङ्गाच्च पृथक् पृथक् सप्तसु वाक्येषु विभक्ताः समुल्लसन्ति इति मनसि निधाय मूले प्रोक्तम्–आदेशभेदोदितसप्तभङ्गमिति ।। २३ ।।

## – भाषानुवाद –

पदार्थों में अनन्त धर्मों की सत्ता है । इस बात को सप्तभङ्गी की प्ररूपणा के माध्यम से कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य महाराजश्री सर्वज्ञविभु श्री अरिहन्तदेव के निरतिशय वचनातिशय की स्तुति करते हुए कहते हैं–

❀ **श्लोकार्थ**–सहभावी ग्रौर क्रमभावी पर्यायों के सम्पृक्त होते हुए भी संक्षिप्त रूप से कथन की स्थिति में पर्याय ग्रविवक्षित होने के कारण गौण रहते हैं। किन्तु विस्तर कथन में पर्यायों की प्रमुखता रहती है।

卐 **भावार्थ**–सर्वज्ञविभु हे जिनेश्वरदेव! ग्रापने सकलादेश तथा विकलादेश के रूप में जो सप्तभङ्गी की प्ररूपणा की है, वह तो ग्रविद्या की वासना से रहित ग्रपक्षपाती विशेषज्ञ विद्वानों-पण्डितों द्वारा ही ज्ञातव्य (ज्ञेय) है।

प्रत्येक वस्तु के द्रव्य, पर्याय ग्रौर उभयरूप होने पर भी द्रव्यनय की मुख्यता से ग्रौर पर्याय नय की गौणता से वस्तु का ज्ञान द्रव्यरूप होता है। पर्यायनय की मुख्यता ग्रौर द्रव्यनय की गौण स्थिति से वस्तु का ज्ञान पर्यायरूप होता है। द्रव्य तथा पर्याय दोनों की प्रमुखता के कारण वस्तु का ज्ञान द्रव्य-पर्याय-उभयात्मक होता है। इसीलिए पूर्वधर-वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज ने भी कहा है कि–'ग्रर्पितानर्पितसिद्धे: [तत्त्वार्थ सूत्र, ५-३१]।'

ग्रर्थात् द्रव्य ग्रौर पर्याय की मुख्यता ग्रौर गौणता से वस्तु की सिद्धि होती है। कुछ जैनाचार्यों ने काल

को पृथक् से द्रव्य स्वीकार नहीं किया है, किन्तु सिद्धान्त-आगमप्रमाण 'गोयमा ! छ दव्वापण्णत्ता' के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'षट् द्रव्यों को स्वीकार करना' यह युक्तिसंगत एवं सिद्धान्त-आगम सूत्र-सम्मत है ।

याकिनीमहत्तराधर्मसूनु श्री हरिभद्रसूरीश्वर जी महाराज ने भी श्रीमलयगिरि टीका में उस सन्दर्भ में विशद प्रकाश डाला है ।

शंका यह होती है कि परमकारुणिक सर्वज्ञविभु श्री अरिहन्त परमात्मा ने विश्वकल्याण की सद्भावना से जब सभी को समानरूप से सप्तभंगीनय (स्याद्वाद) बताए तो अन्य मतवादी इसके गहन रहस्य को क्यों नहीं समझ पाये तथा उन्होंने इसे स्वीकार क्यों नहीं किया ? इसका समाधान यह है कि–अनादिकाल से मिथ्यादर्शन रूप अविद्या के वशीभूत होने के कारण तथा पक्षपात बुद्धि के कारण वे सत्-असत् में विवेक रखने में असमर्थ रहे ।

सर्वज्ञविभु श्री अरिहन्त-जिनेश्वर भगवन्त द्वारा प्ररूपित सप्तभङ्गीनय को हठवाद रहित सत्-असत् विवेकी पुरुष (विद्वान्) ही जानने में समर्थ हैं । श्रीआगमशास्त्र में कहा भी है–

'सत् और असत् का विवेक न होने से कर्मों के सद्भाव से और ज्ञान के फल का अभाव होने से मिथ्या-दृष्टियों को अज्ञान आवेष्टित करता है।'

सप्तभङ्गी का स्वरूप क्या है? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए क्रमशः सप्तभङ्गों का विश्लेषण इस प्रकार है–

(१) **'स्यादस्ति जीव'**–किसी अपेक्षा से जीव अस्ति रूप ही है। इस भङ्ग में द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता और पर्यायार्थिक नय की गौणता है। अतः 'स्यादस्त्येव जीवः' का अर्थ है–किसी अपेक्षा से जीव के अस्तित्व-धर्म की प्रधानता और नास्तित्व धर्म की गौणता है। या जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विद्यमान है तथा परद्रव्य आदि की अपेक्षा नहीं। यदि जीव अपने द्रव्य आदि की अपेक्षा अस्ति रूप तथा परद्रव्य की अपेक्षा नास्ति रूप न हो तो जीव का स्वरूप नहीं बनेगा।

(२) **स्यान्नास्ति जीवः**–किसी अपेक्षा से जीव नास्ति रूप ही है। इस भङ्ग में पर्यायार्थिक नय की प्रमुखता और द्रव्यार्थिक नय की गौणता है। जीव पर सत्ता के

अभाव की अपेक्षा को मुख्य मानकर नास्ति रूप है तथा स्वसत्ता के भाव की अपेक्षा गौण रूप में अस्ति रूप है। यदि पदार्थों में परसत्ता का अभाव न हो तो समस्त पदार्थ एक रूप हो जायेंगे। यह पर-सत्ता का अभाव अस्तित्व रूप की भाँति स्वसत्ता के भाव की अपेक्षा रखता है। कोई भी पदार्थ सर्वथा भाव अथवा सर्वथा अभाव रूप नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक पदार्थ को भाव एवं अभाव सापेक्ष स्वीकार करना चाहिए।

(३) **स्यादस्ति-नास्ति (च) जीवः**–जीव किसी अपेक्षा से अस्ति और नास्ति स्वरूप है। इस भङ्ग के माध्यम से द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक उभयनयों का प्राधान्य सूचित है। जिस क्षण वक्ता के अस्ति और नास्ति दोनों धर्मों के कथन की विवक्षा होती है, उस क्षण-एतत् प्रकारक तृतीय भङ्ग का प्रयोग होता है। यह नय भी कथंचित्रूप है। यदि पदार्थ के स्वरूप को सर्वथा वक्तव्य मानकर किसी अपेक्षा से भी अवक्तव्य न स्वीकार करें तो एकान्तवाद पक्ष में अनेक दोष उपस्थित होते हैं।

(४) **स्यादवक्तव्यो जीवः**–जीव कथंचित् अवक्तव्य ही है। इस चतुर्थ भङ्ग में द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक

उभयविध नयों का अप्राधान्य है। जिस समय वस्तु-पदार्थ का स्वरूप एक नय की अपेक्षा से कहा जाता है, उस समय दूसरा नय सर्वथा निरपेक्ष नहीं रहता–यह बात पूर्व में कही जा चुकी है, किन्तु जिस नय की जहाँ विवक्षा होती है, वह नय वहाँ प्रधान होता है और जिस नय की जहाँ विवक्षा नहीं होती, वहाँ वह गौण रूप में रहता है।

प्रथम भंग में जीव के अस्तित्व की प्रधानता है, द्वितीय भंग में नास्तित्व की मुख्यता है, अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों की प्रधानता से जीव का एक साथ कथन करना सम्भव नहीं है; क्योंकि एक शब्द से अनेक गुणों का निरूपण नहीं हो सकता। अतः एक साथ अस्तित्व और नास्तित्व उभयविध धर्मों की अपेक्षा जीव कथंचित् अवक्तव्य ही है।

(५) **स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च जीवः**–जीव कथंचित् अस्तिरूप और अवक्तव्य रूप है। प्रकृत नयभङ्ग में द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की अप्रधानता भी है। किंचित् द्रव्यार्थ या पर्यायार्थ विशेष के आश्रय से जीव अस्ति स्वरूप है तथा द्रव्य-सामान्य और पर्यायसामान्य अथवा द्रव्यविशेष और पर्याय-

विशेष की एक साथ अभिन्न विवक्षा से जीव अवक्तव्य स्वरूप है। यथा–जीवत्व अथवा मनुष्यत्व की अपेक्षा आत्मा अस्तित्व स्वरूप है तथा द्रव्यसामान्य और पर्याय-सामान्य की अपेक्षा वस्तु के भाव और अवस्तु के अभाव के एक साथ अभेद की अपेक्षा से आत्मा अवक्तव्य है।

(६) **स्यादस्ति च नास्ति जीवः**–जीव कथंचित् नास्ति और अवक्तव्य रूप है। इस षष्ठ भंग में पर्यायार्थिक उभयनय की अप्रधानता है। जीव पर्याय की अपेक्षा नास्ति रूप है तथा अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों की एक साथ अभेद अपेक्षा-विवक्षा से अवक्तव्यरूप है।

(७) **स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च जीवः**–जीव कथंचित् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य रूप है। जीव की द्रव्य की अपेक्षा से अस्ति, पर्याय की अपेक्षा से नास्ति और द्रव्य-पर्याय उभय की अपेक्षा से अवक्तव्य रूप स्थिति है।

यहाँ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक उभय नयों की प्रधानता और अप्रधानता वर्णित है ॥ २३ ॥

[ २४ ]

ये विरुद्धधर्माध्यासितं वस्तु पश्यन्तं एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्भावयन्ति तेषां प्रमाणमार्गात्च्यवनमाह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**उपाधिभेदोपहितं विरुद्धम्,**
**नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।**
**इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीताः,**
**जडास्तमेकान्तहताः पतन्ति ।। २४ ।।**

❀ **अन्वयः**–अर्थेषु उपाधिभेदोपहितम् असत्त्वं सद्वाच्यते च न विरुद्धम् । विरोधभीताः एकान्तहताः अप्रबुध्यैव, पतन्ति इति ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी–उपाधिभेदेति**–यथा चेतनाचेतनेषु पदार्थेषु अस्तित्वं नास्तित्वं तथा च अवक्तव्यं न विरुद्धम् । तथा विरोध-निषेधरूपस्यावक्तव्यस्य अस्तित्वं नास्तित्वं नैव विरुध्यते । अथवा नास्ति अवक्तव्येन स कोऽपि विरोधोऽतोऽवक्तव्यस्यास्तित्वनास्तित्वाभ्यामपि नैव विरोधः । अतएवास्तित्व-नास्तित्वावक्तव्येषु भङ्गत्रयेषु पारस्परिक-विरोधाभावात् सप्तभङ्गानि विरोधितोपलक्ष्यते ।

यतो हि त्रयाणामेव मुख्यत्वात्, एतेषां तु एतद्भङ्गत्रय-समायोजने नैवोत्पादितत्वात्। शेषाणां भङ्गानां संयोगजन्यत्वादेतेष्वन्तर्भाव इत्याकूतम्।

यत्तु विरोधिभि - र्विरोधवैयाधिकरणानवस्थासंकर-व्यतिकर-संशयाप्रतिपत्त्यभावादि दोषाः प्रदर्शिताः तत्तु निर्मूलमेवेति दिक्।

## - भाषानुवाद -

❀ **श्लोकार्थ**–पदार्थों में सप्तभङ्गीवाद के अनुसार आपेक्षिक विरोधाभाव को विधिवत् न जानकर अस्तित्व और नास्तित्व धर्मों के स्थूल रूप से दिखाई देने वाले विरोध से भयभीत होकर अस्तित्व आदि धर्मों में नास्तित्व आदि धर्मों का निषेध करके अपने एकान्तवाद को स्थापित करने वाले, युक्ति मार्ग का अनुसरण करने में असमर्थ एकान्तवादी वस्तुतः न्यायमार्ग से पतित हो जाते हैं।

卐 **भावार्थ**–एकान्तवादियों ने सप्तभङ्गी-न्याय में क्रमशः आठ दोष उद्भावित किये हैं–(१) विरोध, (२) वैयाधिकरण्य, (३) अनवस्था, (४) संकर, (५) व्यतिकर, (६) संशय, (७) अप्रतिपत्ति, और (८) विषयव्यवस्थाहानि (अभाव)।

(१) **विरोध**–जिस प्रकार एक अभिन्न पदार्थ में शीत और उष्ण दोनों विरुद्ध धर्मों की स्थिति एक समय में सम्भव नहीं होने से उनमें पारस्परिक विरोध होता है, उसी प्रकार एक अभिन्न वस्तु में अस्तित्व रूप सामान्य धर्म तथा नास्तित्व रूप विशेष धर्म (परस्पर विरुद्ध धर्मों) का सद्भाव न होने के कारण इन दोनों में परस्पर **विरोध** होता है।

"सामान्य - विशेषयो - र्विधिप्रतिषेधरूपयो - र्विरुद्ध-धर्मयोरेकत्राभिन्ने वस्तुनि असम्भवात् शीतोष्णवदिति विरोधः।"

(२) **वैयाधिकरण्य**–जो सामान्यविधिरूप यानी अस्तित्व का अधिकरण है, वही प्रतिषेध रूप 'नास्तित्व' का अधिकरण नहीं हो सकता है। अन्यथा उनके एक होने पर विधि-निषेध की एकरूपता उपस्थित होगी। विधि धर्म एवं प्रतिषेध धर्म 'अस्तित्व और नास्तित्व' का अधिकरण एक होने के कारण अभेद सिद्ध होने लगेगा जब कि दोनों भिन्न हैं। अतः दोनों को अधिकरण भेद से **वैयाधिकरण्य** नामक दोष आयेगा, क्योंकि कहा भी है–
'विभिन्नाधिकरणवृत्तित्वं वैयाधिकरण्यम्।'

(३) **अनवस्था**—अनवस्था के सन्दर्भ में कहा गया है—'अप्रामाणिकपदार्थ-परम्परा परिकल्पना-विश्रान्त्यभावश्चानवस्था। अर्थात् जिस रूप से पदार्थ विधिरूप अस्तित्वरूप सामान्य अधिकरण होता है और जिस रूप से (पर रूप से) वही पदार्थ प्रतिषेधरूप-नास्तित्व विशेष का अधिकरण होता है, उन दोनों रूपों को एक ही रूप से (स्वरूप और पररूप इन दोनों रूपों में से किसी एक रूप से) वह पदार्थ धारण करता है या उन दोनों रूपों से धारण करता है? इन दोनों में से किसी एक ही रूप से धारण करता है तो एक अभिन्न पदार्थ में दो रूपों की स्थिति के कारण **विरोध** उपस्थित होता है। स्वरूप और पररूप इन दोनों स्वभावों से सामान्यरूप और विशेषरूप इन दोनों स्वभावों (पदार्थों) को धारण करता है, यदि ऐसा स्वीकार किया जाये तो **अनवस्था** नामक दोष उपस्थित होता है, क्योंकि उन दोनों स्वरूप और पररूप स्वभावों को अन्य स्वरूप और पररूप इन दोनों स्वभावों से फिर इन स्वरूप और पररूप स्वभावों को अन्य स्वरूप स्वभावों की अप्रामाणिक कल्पना करनी पड़ती है।

(४) **संकर**—'येनात्मा सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति संकरः।'

अथवा–'येन रूपेण सत्त्वं तेन रूपेणासत्त्वस्यापि प्रसङ्गः। येन रूपेण चासत्त्वं तेन रूपेण सत्त्वस्यापि प्रसङ्ग इति संकरः।'

अर्थात्–जिस स्वरूप से पदार्थ सामान्य (अस्तित्व) का अधिकरण होता है उसी रूप से सामान्य अस्तित्व और विशेष अस्तित्व का अधिकरण हो जाने से तथा जिस रूप से पदार्थ विशेष (नास्तित्व) का अधिकरण है उसी रूप से विशेष (नास्तित्व) और सामान्य (अस्तित्व) का अधिकरण होने पर **संकर** नाम का दोष उपस्थित होता है।

तात्पर्य यह है कि–जिस रूप से (स्वरूप चतुष्टय से) पदार्थ में अस्तित्व धर्म का सद्भाव होता है, उसी रूप से (स्वरूप चतुष्टय से) उसी पदार्थ में नास्तित्व धर्म का सद्भाव होने का प्रसङ्ग आने के कारण तथा जिस रूप से (पररूप चतुष्टय से) पदार्थ में नास्तित्व धर्म का सद्भाव होता है, उसी रूप से (पररूप चतुष्टय से) उसी पदार्थ में अस्तित्व धर्म का सद्भाव होने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

(५) **व्यतिकरः**–व्यतिकर नामक दोष का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है–'येन रूपेण सत्त्वं तेन

रूपेणासत्त्वमेव स्यान् न तु सत्त्वं, येन रूपेण चासत्त्वं तेन सत्त्वमेव स्यान्नत्वसत्त्वम्' इति व्यतिकरः ।

अर्थात्–जिस स्वरूप से पदार्थ में सामान्य-अस्तित्व का सद्भाव होता है, उसी स्वरूप से, उसी पदार्थ में विशेष नास्तित्व का सद्भाव होने से तथा जिस स्वरूप से पदार्थ में विशेष नास्तित्व का सद्भाव होता है, उसी स्वरूप से उसी पदार्थ में सामान्य अस्तित्व का सद्भाव होने से **व्यतिकर** नामक दोष उपस्थित होता है ।

(६) **संशय**–व्यतिकर नामक दोष आने पर वस्तु-पदार्थ के सत्त्वरूप या असत्त्वरूप असाधारण धर्म के द्वारा निश्चय करने की शक्ति का अभाव होने के कारण **संशय दोष** आता है ।

(७) **अप्रतिपत्ति**–संशय होने से वस्तु-पदार्थ का सम्यक् परिज्ञान नहीं हो सकता । अतएव अनेकान्तवाद-स्याद्वाद में **अप्रतिपत्ति दोष** उपस्थित होता है ।

(८) **अभाव**–वस्तु-पदार्थ का यथार्थज्ञान न होने के कारण वस्तु-पदार्थ की व्यवस्था नहीं बन पाती है । अतएव अनेकान्तवाद-स्याद्वाद में विषय व्यवस्था हानि अर्थात् **अभाव** नामक दोष आता है । वस्तुतः प्रश्न-वशादेकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधि-प्रतिषेध-कल्पना-

सप्तभङ्गी। अर्थात् यथार्थ स्थिति यह है कि सापेक्षरीति से एक ही वस्तु-पदार्थ में विधि तथा प्रतिषेध की स्थिति को ही '**सप्तभंगी**' कहते हैं।

प्रत्येक वस्तु-पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत्‌रूप और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत्‌रूप है।

वस्तु-पदार्थ के अस्तित्व और नास्तित्व धर्मों का एक साथ कथन नहीं किया जा सकता। अतः प्रत्येक वस्तु किसी प्रकार से अवक्तव्य भी है।

वस्तु-पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर विरुद्ध धर्मों की कल्पना किसी अपेक्षा से ही की जाती है। अतः स्वद्रव्य आदि की अपेक्षा से वस्तु कथंचित् 'अस्ति' तथा पर-द्रव्य की अपेक्षा से 'नास्ति' है। फलतः सप्तभंगी में किसी प्रकार भी उक्त भाङ्ग दोष सम्भव नहीं हैं। श्रीजैनागम-सिद्धान्त के अनुसार वस्तु-पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म भिन्न-अपेक्षाओं को लेकर स्वीकृत हैं। जिस अपेक्षा से वस्तु अस्ति रूप है, उसी अपेक्षा से स्याद्वादी वस्तु को नास्ति रूप में कदापि स्वीकार नहीं करते। अतः स्याद्वादी सप्तभङ्गी सर्वथा दोष रहित है॥ २४॥

[ २५ ]

अथानेकान्तवाद-स्याद्वादस्य सर्वद्रव्य-पर्यायव्यापित्वेऽपि मूलभेदापेक्षया चातुर्विध्याभिधानद्वारेण भगवतस्तत्त्वामृत-रसास्वादसौहित्यमाह–

卐 **मूलश्लोकः**–

**स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं,**
**वाच्यं न वाच्यं सदसत् तदेव ।**
**विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्व–**
**सुधोद्गतोद्गार - परम्परेयम् ।। २५ ।।**

❀ **अन्वयः**–हे नाथ ! (भवता) विपश्चितां (समाजे) स्यान्नाशि, स्यात् नित्यम्, स्यात् सदृशम्, स्यात् विरूपम्, स्यात् वाच्यम्, स्यात् न वाच्यम्, स्यात् सद्, स्याद् असत्, एवं–इयं निपीततत्त्व–सुधोद्गतोद्गारपरम्परा (प्रतिपादिता) ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी–स्यान्नाशीति** । परे विद्वांसः स्याद् घटितत्त्वात् स्याद्वादं संशयवादमाहुस्तन् न युक्ति-संगतम् । इह 'स्याद्' इति पदं नैव सन्देहवाचि अपितु विभक्तिप्रतिकूलकमव्ययम् । यत्तु सति सन्देहे स्यात्, संभवेत् इति प्रयोगः प्रकृते तु न तथा ।

**'स्याद्वाद'** इति समस्तं पदं न तु व्यस्तम् । स्याच्चासौ वादः स्याद्वादः । 'सह सुपा' इत्यधिकृतं सूत्रं विधिसूत्रं तेन सुबन्तेन सह सुबन्तस्य समासो न तु तिङा । यथा–अस्ति क्षीरा गौरित्यत्र बहुव्रीहिसमासार्थम् अस्तीति विभक्ति प्रतिरूपकं सदृशमव्ययं तथैव प्रकृतेऽनेकान्तवाचकं स्यादिति पदमव्ययम् । ते **'अनेकान्तवादः'** इत्यर्थः ।

अनेकान्तसूचकस्य 'स्याद्' इति पदस्य अष्टासु पदेषु योगः, तेन–

(१) प्रत्येकवस्तुनो विनाशित्वात् स्याद् अनित्यत्वम् ।

(२) प्रत्येकस्य वस्तुनः सामान्यरूपत्वात् स्यात् सामान्यम्, विशेषरूपत्वात् स्याद् विशेषत्वम् ।

(३) प्रत्येकपदार्थस्य वक्तव्यत्वात् स्यात् वाच्यत्वम्, अवाच्यत्वात् स्याद् वाच्यत्वम् अवक्तव्यत्वम् वा ।

(४) प्रत्येकपदार्थस्य अस्तिरूपत्वात् स्यात् सत् नास्तिरूपत्वात् स्याद् असत् । एवं चतुर्षु वादेषु स्याद्वादस्य समावेशः । प्रत्येकपदार्थः द्रव्यार्थिकनयेन नित्य - सामान्यावाच्यासद्रूपः स्वीकरणीय इति युक्तियुक्तम् ।

## – भाषानुवाद –

अनेकान्तवाद समस्त द्रव्य (वस्तु) एवं वस्तु-पर्यायों में विद्यमान है, किन्तु प्रमुख भेदों की अपेक्षा स्याद्नित्य, स्याद्अनित्य स्यात्सामान्य, स्यात्विशेष, स्यात्वाच्य, स्यात्अवाच्य, स्यात्सत्, स्यात्असत् के रूप में चार भेदों को प्रदर्शित करते हुए कलिकालसर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्री हेमचन्द्रसूरीश्वर जी महाराज कहते हैं–

❀ **श्लोकार्थ**–हे सर्वज्ञविभो ! जिनेश्वरदेव ! आपने विद्वानों के समक्ष अनेकान्तरूपी सुधा-अमृत का पान करके प्रत्येक वस्तु को कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य, कथञ्चित् सामान्य, कथञ्चित् विशेष, कथञ्चित् वाच्य, कथञ्चित् अवाच्य, कथञ्चित् सत्, कथञ्चित् असत् रूप से प्रतिपादित किया है ।

卐 **भावार्थ**–यद्यपि एकान्तवादी स्याद्वाद को संशय-वाद के नाम से पुकारते हैं, किन्तु उनका कथन युक्ति-संगत नहीं है क्योंकि वे यदि 'स्यात्' पद को क्रियावाचक मानकर 'संभवेत्' अर्थ करते हैं तो ऐसा अर्थ स्याद्वादी को अभीष्ट नहीं है ।

स्याद्वाद में प्रयुक्त 'स्यात्' पद विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है, जिसका अर्थ है–'अनेकान्त-स्याद्वाद ।' जैसे–

'अस्ति क्षीरा गौः' प्रयोग में '**अस्ति**' पद क्रियावाचक न होकर विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है ।

दूसरी बात यह है कि–'**स्याद्वाद**' पद समास युक्त पद है । जिसका विग्रह होता है–स्याच्चासौ वादः स्याद्वादः । यदि यहाँ 'स्यात्' पद क्रियावाचक होता तो 'सहसुपा' नामक अधिकृत विधि सूत्र से समास से समास कैसे होता ? यह सूत्र सुबन्त का सुबन्त के साथ समास करता है, सुबन्त का तिङन्तपद के साथ समास नहीं करता । 'स्यात्' पद का अर्थ यहाँ '**अकेकान्त**' समझना चाहिए । अतः अनेकान्त-वाद अर्थ फलित होता है ।

प्रस्तुत श्लोक में 'स्यात्' पद का आठों पदों के साथ योग है । अन्वय करते समय वह योग प्रदर्शित किया गया है । अतः फलितार्थ यह कथन है–

(१) प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षा से विनाशीक होने के कारण **कथंचित् अनित्य** है तथा किसी अपेक्षा से अविनाशी होने के कारण **कथंचित् नित्य** है ।

(२) प्रत्येक वस्तु सामान्य रूप होने से कथंचित् सामान्य रूप है तथा विशेष रूप होने से कथंचित् विशेष रूप भी है ।

(३) प्रत्येक वस्तु वाच्य होने के कारण कथंचित् वाच्य है तथा अवाच्य होने के कारण अवाच्य भी है।

(४) प्रत्येक वस्तु अस्तिरूप होने के कारण कथंचित् 'सत्' है, तथा नास्ति रूप होने के कारण कथंचित् 'असत्' भी है।

यह यथार्थ कथन रूप अनेकान्तवाद-परम्परा भी सुधा-अमृत पान के उद्गार की सर्वमान्य परम्परा है। प्रत्येक पदार्थ में द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्य, सामान्य, अवाच्य, सत् तथा पर्यायार्थिक नय से अनित्य, विशेष वाच्य, असत् की स्थिति सुतरां स्वीकार्य है ॥ २५ ॥

[ २६ ]

पुनरप्याचार्योऽभ्यस्तं स्वमार्गं सिंहावलोकनन्यायेन व्यनक्ति–

卐 **मूलश्लोकः–**

**य एव दोषा किल नित्यवादे,**
**विनाशवादेऽपि समस्त एव ।**
**परस्परध्वंसिषु कण्यकेषु,**
**जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते ॥ २६ ॥**

❀ **अन्वयः**–नित्यवादे, ये, एव, दोषाः, विनाशवादे अपि (ते) समस्ताः एव (दोषाः) किल। (हे जिन!) परस्पर ध्वंसिषु कण्टकेषु, ते अधृष्यं, जिनशासनं जयति।

卐 **स्याद्वादबोधिनी–स एवेति।** नित्यवादेऽर्थात् नित्यैकान्तवादे ये दोषाः अनित्यैकान्तवादिभिः बौद्धैः प्रदर्शितास्ते एव दोषाः अर्थक्रियानुपपत्यादयः क्षणिकवादि-मते (अनित्यैकान्तवादिमतेऽपि) सन्त्येवेतिदार्ढ्यं सूचयितुं निश्चायक किल शब्दप्रयोगः।

नित्यैकान्तवादिनां मते **सर्वं नित्यं सद्रूपत्वात्।** क्षणिक पदार्थानां भूत-भविष्यद्-वर्त्तमानेषु काप्यर्थक्रिया-कारितानैव भवितुमर्हति।

यतो हि 'स्वप्रयोजनोत्पत्तौ विरोधात्' क्षणिकः पदार्थः स्थैर्यं क्षणादधिकं धारयितुं नैव शक्नोति। अतः क्षणिक-त्वान् निवृत्तोऽसौ नित्यत्वे सम्मिलति।

अत्र प्रश्नोऽयं समुदेति यत् क्षणिक स्तावत् पदार्थः 'अस्ति' रूपो भवन् स्वकार्यं सम्पादयति। अभावरूपात्मको नास्ति रूपो भवन्वेति? नाद्यः प्रथम क्षणोत्पन्नं द्रव्यं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठतीति सिद्धान्तित्वात्। नापि द्वितीयोऽसत् भावे नास्तिरूपेण नैव प्रयोजनसिद्धिः। एवं

सति शशविषाणादयोऽपि अर्थक्रियाकारितां सम्पादयितुं प्रयतेरन् । असत् पदार्थस्य शशविषाणस्याभेदात् ।

**अनित्यवादिनां** मते सर्वे पदार्थाः क्षणिकाः सद्रूपात् । अर्थक्रियाकारित्वमेव सतो लक्षणम् । अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाद् अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षणत्वात्, ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडीकृतां सत्तां व्यावर्त्तयेदिति क्षणिकसिद्धिः । नित्यः पदार्थः निजार्थक्रियाकारितां क्रमशः सम्पादयितुं न समर्थः, पूर्वार्थ क्रियाकरण स्वभावोपमर्दद्वारेणोत्तरक्रियायां क्रमशः प्रवृत्तिदर्शनात् । यदि पूर्ववर्त्तिकिया: करणस्वभावस्य विनाशः नैव स्वीक्रियते, तदा तु पूर्ववर्त्ति कार्यकारणक्रियायाः अनन्तत्व-(अविरतत्व) प्रसंगो नाम दोषः । यद्येवमुच्यते यत् पूर्वकार्योत्पादन क्रियाकरणस्वभाव विनाशेऽपि पदार्थस्य-नित्यताक्षुण्णेति नैतदुपयुज्यते । यतो हि पदार्थानां क्रमशः अवस्थात्मकाभावात् अनित्यत्वं स्फुटमेव ।

अथ नित्योऽपि क्रमवर्त्तिनं सहकारिकारणमर्थमुदीक्षमाणस्तावदासीत् पश्चात् तामादाय क्रमशः कार्यं कुर्यादिति चेत् न । सहकारिकारणस्य नित्यऽकिञ्चित्करस्यापि प्रतीक्षणेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थ क्रियाः कुरुते प्रत्यक्षविरोधात् ।

संक्षेपेणेदं वक्तुं शक्यते यत् ते नित्यैकान्तवादिनोऽनित्यैकान्तवादिनो मिथोविवदमाना ध्वंसं प्रयान्ति । अर्हद्भाषितोऽनेकान्तवादो राजमार्ग इव निष्कण्टकः, न क्वापि दोषः । राजमार्गेण सर्वे सुखं व्रजन्ति । दण्डादिसाहाय्येनान्धा अपि पङ्गवोऽपि । अतो निष्कण्टकोऽनेकान्तवादः परैरपि स्वीकरणीयः सर्वोत्कृष्टत्वात् ।

## – भाषानुवाद –

पुनः कलिकालसर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वर जी महाराज अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि नित्य एकान्तवादी तथा अनित्य एकान्तवादी परस्पर आरोप करते हुए शास्त्रहेतुरूपी प्रहार से आहत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ विभु श्री अर्हद् भाषित अनेकान्तवाद-स्याद्वाद ही सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त कर स्वतः बिना प्रयास के ही विजयी होता है–

❀ **श्लोकार्थ**–नित्य एकान्तवाद में जिन दोषों का समावेश है वे ही दोष अनित्य एकान्तवाद के पक्ष में भी समान रूप से विद्यमान हैं। ऐसी परिस्थिति में उभयपक्ष के विवाद के कारण अनेकान्त विजयी होता है। क्योंकि जब किसी पुण्यशाली राजा के शत्रु आपस में

स्वयं लड़कर नष्ट हो जाते हैं तो वह पुण्यशाली राजा बिना प्रयास के ही अखण्ड राज्य-सुख का उपभोग कर विजयश्री का वरण करता है। ठीक इसी प्रकार अनेकान्तवाद के विरोधी मत परस्पर खण्डन करते हुए, एक-दूसरे को दोष देते हुए स्वतः परास्त हो जाते हैं फिर एकान्तवादों में समन्वय सूत्र की संस्थापना करने वाला श्रीजिनभाषित अनेकान्तवाद-स्याद्वाद ही सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वमान्य होता है।

**य एवेति**–विश्व के समस्त पदार्थों को सद्रूप होने के कारण नित्य स्वीकार करने वाले नित्यवादियों के मत में क्रमशः अर्थक्रियाकारिता घटित नहीं हो सकती। अतः जो अनित्यवादियों ने एकान्त नित्यवादियों के पक्ष में दोष प्रदर्शित किये हैं, वे अनित्य एकान्तवादियों के पक्ष में भी निश्चित रूप से आते हैं–इस बात को दृढ़ता-पूर्वक सूचित करने के लिए यहाँ 'किल' शब्द का प्रयोग किया गया है।

**नित्यैकान्तवादियों** के मतानुसार सभी पदार्थ सद्रूप होने के कारण नित्य हैं–'सर्वं नित्यं सद्रूपत्वात्।' क्षणिक पदार्थों में भूत, भविष्यत् और वर्तमान में किसी प्रकार भी अर्थक्रिया सम्भव नहीं है। क्योंकि अपने प्रयोजन-

भूतकार्य की उत्पत्ति करने में विरोध उपस्थित होता है। क्षणिक पदार्थ क्षण से अधिक स्थिरता नहीं धारण कर सकता है। अतः वह क्षणिकत्व से निवृत्त होकर, अन्य किसी की शरण के अभाव में नित्यत्व में सम्मिलित होता है।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'क्षणिक पदार्थ 'अस्ति' रूप होकर अपने कार्य का सम्पादन करता है या 'नास्ति' रूप होकर? पहली बात ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम क्षण में उत्पन्न द्रव्य निर्गुण, निष्क्रिय होता है यह सिद्धान्त है। अतः निर्गुण, निष्क्रिय दशा में वह अर्थक्रियाकारिता नहीं कर सकता है।

इसी प्रकार दूसरी बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'नास्ति' रूप होने से प्रयोजन की सिद्धि सम्भव नहीं है।

इस तरह 'नास्ति' रूप से यदि प्रयोजन-सिद्धि स्वीकार करें तो शशविषाण (गधे के सींग) आदि से भी प्रयोजन-सिद्धि का संकट खड़ा हो जायेगा क्योंकि वे भी नास्ति रूप, असद्रूप हैं।

**अनित्यैकान्तवादियों** के मत में विश्व के सभी पदार्थ क्षणिक हैं, सद्रूप होने के कारण। अर्थक्रियाकारिता

ही सद्‌पदार्थ का लक्षण है। पदार्थों को अक्षणिक, नित्य मानने पर उनमें क्रमशः एवम् युगपत् अर्थक्रियाकारिता का विरोध होने लगेगा, क्योंकि अर्थक्रियाकारिता भाव-लक्षण है। अर्थात् पदार्थों को अक्षणिक-कूटस्थ नित्य मानने में उनमें क्रम से, अथवा एक साथ अर्थक्रिया होने में विरोध उपस्थित होने से तथा अर्थक्रिया का कर्त्ता होना, पदार्थ का स्वरूप होने के कारण, उस नित्य पदार्थ से पृथक् होने वाली अर्थक्रिया अपने द्वारा व्याप्त नित्य पदार्थ की सत्ता को उस पदार्थ से पृथक् कर देगी–अर्थक्रिया का पदार्थ में अभाव होने पर पदार्थ का अस्तित्व क्षीण हो जायेगा। इस तरह पदार्थ की अनित्यत्व, क्षणिकत्व सिद्धि होती है।

नित्य पदार्थ अपनी अर्थक्रिया को क्रम से करने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि पदार्थ के प्रयोजनभूत पूर्वकाल-वर्त्ती कार्य को करने के स्वभाव के विनाश द्वारा पदार्थ के प्रयोजनभूत उत्तरकालवर्ती कार्य को उत्पन्न करने की क्रिया करने की पदार्थ की प्रवृत्ति होती है। पूर्व कार्योत्पादन क्रिया करने के स्वभाव का यदि विनाश न किया गया तो पूर्वकालवर्त्ती कार्य करने की क्रिया का अन्त न होने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। पूर्व कार्योत्पादन क्रिया करने के स्वभाव का विनाश होने पर पदार्थ

की नित्यता विनष्ट हो जाती है, क्योंकि पदार्थ की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का क्रम से अभाव होते रहना ही अनित्यता का लक्षण है ।

यदि आप ऐसा कहते हैं कि पदार्थ नित्य होने पर भी क्रमवर्ती सहकार के कारणभूत अर्थ को अपेक्षा करता हुआ विद्यमान रहता है और पश्चात् उस सहकारी कारणभूत पदार्थ को प्राप्त करके क्रम से कार्य करता है तो यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि नित्य पदार्थ के विषय में नित्य पदार्थ को अपनी अर्थ क्रिया करने में प्रवृत्त करने के विषय में सहकारी कारणभूत पदार्थ की अपेक्षा करने पर, वह सहकारी कारणभूत पदार्थ भी नित्य होने के कारण अकिञ्चित्कर होने से, अन्य सहकारी कारणभूत पदार्थ की अपेक्षा करनी पड़ेगी ।

इस प्रकार अन्यान्य सहकारी कारणभूत पदार्थों की अपेक्षा करने के कारण **अव्यवस्था दोष** (अनवस्था) प्रकट हो जायेगा । नित्य पदार्थ युगपत् (एक साथ) भी अर्थ-क्रिया नहीं कर सकते, प्रत्यक्ष विरोध के कारण । अर्थ-क्रिया क्रमशः होती है । अर्थक्रिया को एक काल में कदापि नहीं देखा जाता है ।

सर्वज्ञ विभु श्री जिनेश्वर भाषित अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) मानने पर उक्त किसी प्रकार के दोषों की सम्भावना नहीं है, क्योंकि श्री जैनदर्शन-जैनमत में तो पदार्थ कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य आदि रूप है।

सारांश यह है कि–उक्त प्रकार से नित्यैकान्तवादी एवम् अनित्यैकान्तवादी पारस्परिक कलह से स्वयं परास्त हो जाते हैं, तथा श्री जिनेन्द्रभाषित सार्वभौम सिद्धान्त स्याद्वाद विजयी होता है। यह निष्कण्टक राजमार्ग की भाँति सभी को आदरणीय है। साथ ही यह समन्वयवाद भी है; कलहदायक **एकान्तवादियों** के लिए समन्वय सूत्र भी है ॥ २६ ॥

[ २७ ]

साम्प्रतमेकान्तवादिनां विशिष्टदोषानाविष्करोत्याचार्यः–

卐 **मूलश्लोकः–**

**नैकान्तवादे सुख-दुःख-भोगौ,**
**न पुण्य-पापे न च बन्ध-मोक्षौ।**
**दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवम्।**
**परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥**

❀ **अन्वयः**–एकान्तवादे, सुख-दुःखभोगौ, न पुण्य-पापे न बन्ध-मोक्षौ च न (घटते)। परैः, दुर्नीतिवादव्यसनासिना, एवम् अशेषम् अपि, जगत्, विलुप्तम्।

卐 **स्याद्वादबोधिनी–नैकान्तवाद** इति। एकान्तवादे सुख-दुःखभोगौ न स्याताम्। कुतः? नित्यस्य विनाशाऽभावात्। यावत् सुखं वा दुःखं वा न विनश्यति तावत् परस्य अवसर एव नास्ति। अतः कथंचिन्नित्यमिति स्वलक्षणे निवेशनीयम्। अस्मिन् मते न दोषः–भोगौ पर्यायेण भवतः न तु युगपद्। सुखोत्पत्तौ दुःखभोगे वा किम् निमित्तम्? कर्माणि। कानि च तानि सातावेदनीयानि असातावेदनीयानि चेति। यत्र यत्र पुण्यं तत्र तत्र सातावेदनीयम्। यत्र सातावेदनीयस्य उदयस्तत्र सुखानुभवः। फलं दत्वा कर्माणि निवर्त्तन्ते। एवं दुःखभोगविषयेऽपि। अतः कथंचित् (स्यात्) इति पदं स्वीकार्यम्। पुण्य-पापेऽपि तथा बोध्यम्। बन्ध-मोक्षविषयेऽपि उभौ सापेक्षिकौ। कियन्तो हि पदार्थाः सापेक्षधर्माणः पिता पुत्रः, गुरुः शिष्यः तथैव पूर्वं बन्धस्ततो मोक्षः। क्रमेण तौ भाविनौ न तु समकालभाविनौ।

भवतामपि लक्षणे स्यात् पदनिवेशे कृते न दोषः। यत्र-यत्र कषायस्तत्र-तत्र बन्धः। कषायरहिते भगवति

सिद्धे न तौ भवतः। कारणाऽभावात् कार्याभाव इति नियमः। अतः अपेक्षावादेनैवं सर्वं कार्यं सुव्यवस्थितं भवति, नैव हठवादेन, कदाग्रहेण वेति दिक्।

भवद्भिर्भिन्नमार्गानुसारिभिः दुर्नयवासनावासितखड्गेन निखिलं जगत् विलुप्तं विनाशितं यद्वा छिन्नमिति भावः।

## – भाषानुवाद –

एकान्तवादियों के विशिष्ट दोषों को पुनः उजागर करते हुए कलिकालसर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज सर्वलोकोपकारक विश्व विभु श्री जिनेश्वर भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं–

❀ **श्लोकार्थ**–एकान्तवाद को स्वीकार करने पर सुख-दुःख का उपभोग, पुण्य-पाप तथा बन्ध-मोक्ष की समीचीन व्यवस्था नहीं बन सकती।

卐 **भावार्थ–नैकान्तवाद इति।** नित्य एकान्तवाद मानने पर सुख-दुःख की उपभोग व्यवस्था नहीं बन सकेगी। क्योंकि नित्य का नाश नहीं होता है। जब तक एक सुख या दुःख का विनाश नहीं होता दूसरे के लिए अवसर नहीं रहता है।

अतः नित्य एकान्तवादियों को **'स्यात् नित्यः पदार्थः'** ऐसा स्वीकार करना चाहिए। स्यात् पद के सन्निवेश से उक्त दोष सम्भव नहीं है, स्याद्वाद स्वीकार करने पर दोष नहीं है, क्योंकि ये दोनों भोग (सुख-दुःखात्मक) सदैव पर्याय से होते हैं, क्रमशः होते हैं, एक साथ नहीं होते।

सुख एवं दुःख की उत्पत्ति में क्या कारण है? ऐसी जिज्ञासा का समाधान यह है कि सुख-दुःख की उत्पत्ति में कर्म कारणरूप हैं। वे कौन-कौन से कर्म हैं? सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म ही सुख तथा दुःख के कारण हैं। जहाँ सातावेदनीय कर्म का उदय होता है, वहाँ सुख तथा जब असातावेदनीय कर्म का उदय होता है तब दुःख का अनुभव होता है।

कर्म, फल प्रदान करके निवृत्त हो जाते हैं। अतः परवादियों को निज लक्षण में 'स्यात्' पद का सन्निवेश करना चाहिए, जिससे किसी प्रकार की सैद्धान्तिक विसंगति न हो। पुण्य-पाप के सन्दर्भ में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

पुण्य-पाप से होने वाले सुख-दुःख भी नित्य एकान्तवाद में नहीं बन सकते। सुखानुभवरूप क्रियात्मक परिणाम पुण्य कर्म के निमित्त से तथा दुःखानुभवरूप क्रियात्मक

परिणाम पापकर्म के निमित्त से उत्पादित किया जाता है। इन दोनों परिणामों की उत्पत्ति करना ही, इन दोनों परिणामों के रूप से परिणत होना ही कर्मबद्ध आत्मा की अर्थक्रिया है। यह पुण्य-पाप से होने वाली अर्थक्रिया कूटस्थ नित्य आत्मा में नहीं हो सकती। पदार्थों को नित्य मानने से उनमें क्रमशः अथवा एक साथ अर्थ क्रिया नहीं हो सकती, यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है। अतः दानादिक से होने वाले शुभ कर्म रूप पुण्य तथा हिंसादिक से होने वाले अशुभ कर्मरूप पाप-दोनों ही एकान्त नित्यवादी के मत में नहीं घट सकते हैं।

**बन्ध-मोक्षौ।** कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा का सम्पृक्त होना **बन्ध** कहलाता है, तथा कर्मपुद्गलों का क्षय होना **'मोक्ष'** है। यह बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी एकान्त नित्यवाद में घटित नहीं होती है। वे संयोग-विशेष को बन्ध कहते हैं। अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति को ही वे संयोग बताते हैं। यह संयोग एक अवस्था को त्याग कर दूसरी अवस्था को प्राप्त करने पर ही सम्भव है।

अतः नित्य आत्मा में अवस्था भेद के कारण बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकती। एकान्त नित्य स्वीकार करने पर बन्धक कर्मों का बन्ध सम्भव नहीं है।

आत्मा के बन्ध न होने के कारण मोक्ष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि बन्ध का विनाश होकर ही 'मोक्ष' की स्थिति सम्भव है। बन्ध और मोक्ष भी सापेक्ष हैं। संसार में सापेक्ष व्यवहार देखा जाता है–गुरु-शिष्यः, पिता-पुत्रः इत्यादि। ठीक इसी प्रकार पहले बन्ध होता है तदनन्तर मोक्ष। बन्ध और मोक्ष–क्रमभावी हैं, समकाल भावी नहीं हैं। अतः आपको भी (परवादियों को) 'स्यात्' पद घटित लक्षण करना चाहिए। ऐसा करने पर दोष नहीं है, क्योंकि जहाँ-जहाँ कषाय है वहाँ-वहाँ बन्ध है, जैसे जीवात्मा।

कषायरहित सिद्ध भगवान में यह स्थिति नहीं है। कारण के अभाव में कदापि कार्योत्पत्ति नहीं होती है। इस प्रकार अपेक्षावाद (स्याद्वाद) स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है।

**इतिदिक्।** यह दिग्दर्शन मात्र है। अर्थात् नित्य एकान्तवाद में जो दोष हैं उनका दिग्दर्शन किया गया है। इसी प्रकार अनित्य एकान्तवाद पक्ष में भी समझना चाहिए।

**अनित्य एकान्तवाद** में भी सुख-दुःखादि व्यवस्था सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वथारूप से विनष्ट होने वाले

पदार्थ को अनित्य कहते हैं। अनित्य आत्मा ने पुण्योपार्जन किया, करने वाले आत्मा का निरन्वय विनाश होने के कारण फल रूप सुख का अनुभव तथा पाप का उपार्जन करने वाली क्रिया करने वाले आत्मा का निरन्वय विनाश होने के कारण दुःख का अनुभव घटित नहीं हो सकता। साथ ही पदार्थों का निरन्वय विनाश मानने पर एक को कर्त्ता तथा अन्य को भोक्ता स्वीकार करना पड़ेगा। इस क्षणिकवादी (अनित्यवादी) के मत में अर्थक्रियाकारित्वक अभाव में पुण्य-पाप की सिद्धि भी सम्भव नहीं है। क्योंकि, इनके मत में पदार्थ मात्र एक क्षण विद्यमान रहता है। निरन्तर विनाश के कारण बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था भी सम्भव नहीं है। अतः सभी को आत्मा को परिणामी स्वीकार करना चाहिए। आत्मा को परिणामी मानने पर कोई बाधा नहीं आती है। परिणाम न तो सर्वथा अवस्थानरूप होता है न सर्वथा विनाश रूप।

पातञ्जल टीका में कहा है कि–'अवस्थित द्रव्य में पहले धर्म का विनाश होने पर दूसरे धर्म की उत्पत्ति को परिणाम कहते हैं।'

(अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः। पा० सू० ३-१३)

कलिकालसर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्री हेमचन्द्रसूरीश्वर जी महाराज इन एकान्तवादियों की विसंगति को ध्यान में रखते हुए ही श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहते हैं कि आप लोगों ने दुर्नय की वासना से वासित तलवार से सारे संसार की समीचीन व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया है।

वस्तुतः **'स्याद्वाद'** अपेक्षावाद ही समन्वयसूत्र है। संसार की सुव्यवस्थिति इसी से सम्भव है। दुराग्रह, कुतर्क से व्यवस्था बिगड़ती है। अतः सार्वभौम समन्वयात्मक सिद्धान्त स्याद्वाद स्वीकार करना श्रेयस्कर है ॥ २७ ॥

[ २८ ]

सम्प्रति 'प्रमाणनयैरधिगमः' इति जिनवचनानुसारि-वाक्यसार्थक्यं स्वीकुर्वन्, पूज्याचार्यश्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरः परान् क्षिपन् भगवतो श्रीजिनेश्वरदेवस्य वचनातिशयं स्तौति–

**卐 मूलश्लोकः–**

**सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थः,**
**मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणैः।**
**यथार्थदर्शी तु नय-प्रमाण-,**
**पथेन दुर्नीति-पथं त्वमास्थः ॥ २८ ॥**

✽ **अन्वयः**–अर्थः, दुर्नीति-नय-प्रमाणैः, सदेव सत् स्यात् सद् इति त्रिधा मीयेत । यथार्थदर्शी त्वं तु नय-प्रमाणेन दुर्नीतिपथम् आस्थः ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी–सदेव सदिति ।** दुर्नयेन 'पदार्थः सर्वथा सत्' नयेन 'पदार्थः सदिति' प्रमाणेन पदार्थः स्यात् सद् (कथञ्चित् सत्) इति कृत्वा त्रिधा पदार्थज्ञानं भवति । हे प्रभो ! यथार्थदर्शिन् ! जिनेश्वर ! भवता तु नय-प्रमाणाभ्यां दुर्नयमार्गो निराकृतः । स्याद्वादमवतार्य परमकारुणिकेन समन्वयसंस्थापको जिनेश्वरदेवेन निष्कण्टको विहितो मार्गः इतिभावः ।

अर्यते = परिच्छिद्यते इति-अर्थः=पदार्थः । ऋगतौ धातुराणादिकः । तस्मात् थन् प्रत्यये गुणे कृतेऽर्थः निष्पद्यते । **दुर्नीति-नयप्रमाणैरिति** – नीयते एकदेश विशिष्टोऽर्थः आभिरितिनीतयो नयाः । दुष्टाः नीतयो दुर्नीतयो दुर्नया इत्यर्थः । नयाः नैगमादयः । प्रमीयते= परिच्छिद्यतेऽर्थोऽनेकान्तविशिष्टोऽनेनेति प्रमाणं स्याद्वा-दात्मकं प्रत्यक्ष-परोक्षलक्षणम् । दुर्नीतयश्च नयाश्च प्रमाणे चेति दुर्नीतिनयप्रमाणानि तैः दुर्नीतिनयप्रमाणैः–द्वन्द्व-समासः । **सदिति** 'सत्' पदमत्राव्यक्तत्वान् नपुंसकम् । निश्चयार्थेऽत्र 'तु' शब्दप्रयोगः ।

**नय इति ।** कस्यापि वस्तुनः सापेक्षनिरूपणं नयः । अनन्तधर्मसंवलितं वस्तुजातम् । अनन्तधर्मेष्वेतेषु एक-धर्मस्य अपेक्षया वस्तुज्ञानं (पदार्थज्ञानं) नय उच्यते । नयेन वस्तुनः एकांशतो ज्ञानं भवति । नयविषये प्रसिद्धाः संग्रहश्लोकाः ध्येयाः–

**अन्यदेव हि सामान्य - भिन्नज्ञानकारणम् ।**
**विशेषोऽप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नयः ।। १ ।।**

**सद्रूपतानतिक्रान्तं, स्वस्वभावमिदं जगत् ।**
**सत्ता रूपतया सर्वं, संगृह्णन् संग्रहो मतः ।। २ ।।**

**व्यवहारस्तु तामेव, प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम् ।**
**तथैव दृश्यमानत्वाद्, व्यापारयति देहिनः ।। ३ ।।**

**तत्रर्जसूत्रनीति स्याद्, शुद्धपर्याय-संश्रिता ।**
**नश्वरस्यैव भावस्य, भावात्स्थितिवियोगतः ।। ४ ।।**

**विरोधिलिङ्गसंख्यादि-भेदाद् भिन्नस्वभावताम् ।**
**तस्यैव मन्यमानोऽयं, शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ।। ५ ।।**

**तथाविधस्य तस्यापि, वस्तुनः क्षणवर्तिनः ।**
**ब्रूते समभिरूढस्तु, संज्ञाभेदेन भिन्नताम् ।। ६ ।।**

**एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं, सदा तन्नोपपद्यते ।**
**क्रियाभेदेन भिन्नत्वाद्, एवंभूतोऽभिमन्यते ।। ७ ।।**

एते परवादिनो दुर्नयाः। तथाहि–नैगमनय-दर्शनानुसारिणौ नैयायिक-वैशेषिकौ। संग्रहाभिप्रायवृत्ता सर्वेऽप्यद्वैतवादिनः सांख्यकाराश्च व्यवहारनयानुसारिणश्चार्वाकाः। ऋजुसूत्रनयावलम्बिनश्चान्येबौद्धाः। शब्दनयानुसारिणश्च वैयाकरणादयः।

अत्र शङ्केयं समुदेति यत् नयेन पदार्थनिश्चयो भवति प्रमाणेनापि तर्हि प्रमाणात् अन्यो नयः इति कस्मात् प्रोच्यते? नयेन वस्तुन एकदेशिज्ञानं न तु समग्रवस्तुनः इति कृत्वा नयः प्रमाणात् पृथगिति। विषयममुं स्फोरयितुं श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके प्रोक्तम्–

**"नायं वस्तु चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः।**
**नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि॥**
**तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।**
**समुद्रबहुता वा स्यात् तत्त्वे क्वास्तु समुद्रवित्॥"**

[श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकम्–१/६/५-६]

असंख्याता नया भवितुमर्हन्ति। सामान्य निश्चयनयापेक्षया नयस्यैक एवभेदः। यथा चोक्तं श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके–

**सामान्यादेशतस्तावदेक एव नयः स्थितः ।**
**स्याद्वाद-प्रविभक्तार्थ विशेषव्यञ्जनात्मकः ।।**
[श्रीतत्त्वार्थश्लो० १/३३/२]

सामान्य-विशेषापेक्षया द्रव्यार्थिकः (द्रव्यास्तिकः), पर्यायार्थिकश्च द्वौ भेदौ भवत इति श्रीसन्मतितर्के व्यवस्थितम्–"दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसावियप्पासिं ।"

**संस्कृतच्छाया**–(द्रव्यास्तिकश्च पर्यायनयश्च शेषाः विकल्पास्तयोः) परस्पर विविक्त सामान्य-विशेषविषयत्वात् द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकावेव नयौ । न च तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति यद् विषयोऽन्यस्ताभ्यां व्यतिरिक्तो नयः स्यात् । श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकेऽपि संक्षेपतः द्वौ एतावेव स्वीकृतौ । यथा–'संक्षेपाद् द्वौ विशेषेण द्रव्य-पर्यायगोचरौ ।'

नयवादनिरूपणे श्रीजैनतार्किकाणां सैद्धान्तिकानां च द्वे परम्परे विश्रुते इति विभाव्यते ।

तत्र तार्किकाणां मते द्रव्यार्थिकाः नैगमादयस्त्रयः, पर्यायास्तिकाः ऋजुसूत्रादयश्चत्वारो भेदास्सन्ति । अस्याः परम्पराया अनुयायिनः श्रीसिद्धसेनदिवाकर-माणिक्यनन्दि-वादिदेवसूरि - प्रभाचन्द्र - यशोविजयादयो विश्वविश्रुताः विद्वान्सः सन्ति ।

द्वितीया परम्परा सैद्धान्तिकानामस्ति तदनुसारेण द्रव्यार्थिकाः नैगमादयश्चत्वारः पर्यायार्थिकाः शब्दादयस्त्रयश्च नयभेदाः। सैद्धान्तिकपरम्परायां क्षमाश्रमणश्रीजिनभद्रगणि-विजयदेवसेनादयः आचार्याः प्रख्याताः।

विशेषावश्यके भाष्ये तु पञ्चशतानि सप्तशतानि नयभेदाः कथिताः–

**"इक्किक्को य सयविहो, सत्तनयसया हवंति एवमेव।**
**अन्नो विय आ एसो, पचेव सया नयाणंतु॥"**

प्रत्येकस्य नयस्य शतं भेदान् कृत्वा नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्दानां पञ्चनयानां पञ्चशतानि भेद सप्तनय स्वीकारे तु सप्तशतानि नयस्य भेदा इति भावः। वस्तुतस्तु यावन्ति वचनानि तावन्तोऽसंख्याता भेदाः नयस्येति पूर्वोक्तमेव श्रेयान्॥

**– भाषानुवादः –**

अब, कलिकालसर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज परकीय दार्शनिकों की दुर्नीति (दुर्नय) पर आक्षेप प्रस्तुत करते हुए 'नय तथा प्रमाण से पदार्थ-ज्ञान होता है' एतत् प्रकारक श्री जिनेश्वर भगवान् के वचनातिशय की स्तुति करते हुए कहते हैं–

❀ **श्लोकार्थ**–दुर्नीति से पदार्थ सर्वथा सत् है, नय से पदार्थ सत् है तथा प्रमाण से पदार्थ कथंचित् सत् है–एतत् प्रकारक त्रिधा पदार्थज्ञान होता है ।

हे प्रभो ! श्रीजिनेश्वरदेव ! आपने अपनी यथार्थ दर्शिता का उपयोग कर 'नय और प्रमाण से पदार्थ ज्ञान होता है'–ऐसा लोकोपकारक वाक्य प्रतिपादित करके दुर्नयमार्ग का निराकरण कर दिया है, जिससे स्याद्वादात्मक समन्वयसूत्र का लाभ प्राप्त करके सभी का मार्ग निष्कण्टक हो गया है ।

**नय इति ।** किसी भी वस्तु का सापेक्ष रीति से निरूपण '**नय**' कहलाता है । सभी वस्तुएँ अनन्त धर्मों वाली होती हैं । इन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म की अपेक्षा से होने वाला वस्तु ज्ञान (पदार्थ ज्ञान) '**नय**' कहलाता है । नय के माध्यम से वस्तु के एकांश का ज्ञान ही सम्भव होता है, सम्पूर्ण का नहीं । नय के सन्दर्भ में संग्रह श्लोकों का मनन आवश्यक है–

"नैगम नय के अनुसार विशेष रहित सामान्य ज्ञान का कारणभूत (वस्तुगत) सामान्य भिन्न होता है और विशेष भी भिन्न होता है ।। १ ।।

सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं। वे अस्तित्व धर्म को नहीं त्यागते हैं। इन सभी पदार्थों का सत्ता रूप से जो संग्रह करता है, उसे '**संग्रह-नय**' कहते हैं ॥ २ ॥

सत्ता के समान दिखाई देनेवाली होने के कारण प्रत्येक वस्तु में विद्यमान उस सत्ता के लिए अवान्तर सत्ता वाले, पदार्थों के लिए प्राणियों को '**व्यवहार-नय**' प्रवृत्त करता है ॥ ३ ॥

स्थिति-ध्रौव्य का अभाव (गौणत्व) होने के कारण केवल विनश्वर पर्याय का सद्भाव होने के कारण अर्थक्रियाकारी होने से पर्याय का आश्रयी '**ऋजुसूत्र-नय**' होता है ॥ ४ ॥

परस्पर विरोधी लिङ्ग, संख्या आदि के भेद से भिन्न-भिन्न धर्मों को मानने वाला '**शब्दनय**' कहलाता है ॥ ५ ॥

क्षणस्थायी (क्षणिक) वस्तु को भिन्न-भिन्न संज्ञाओं के भेद से भिन्न जानना '**समभिरूढ़-नय**' कहलाता है ॥ ६ ॥

वस्तु विशेषक्रिया करने के समय ही विशेष नाम से कही जा सकती है, वह सदा एक शब्द का वाच्य नहीं हो सकती, ऐसे नय को '**एवंभूत नय**' कहते हैं ॥ ७ ॥

एकान्तवादी दार्शनिक पदार्थ के एक धर्म को सत्य मानकर अन्य धर्मों का निषेध करते हुए पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं। अतः वे दुर्नयवादी कहे जाते हैं। उदाहरणार्थ—न्याय-वैशेषिक दार्शनिक नैगम नय का अनुसरण करते हैं। अद्वैतवादी वेदान्ती तथा सांख्य-दार्शनिक संग्रहनय को मानते हैं। चार्वाक, व्यवहारनयवादी है। बौद्ध ऋजुसूत्रनयवादी हैं तथा वैयाकरण शब्दनय का अनुगमन करते हैं।

यहाँ **शङ्का** यह उदित होती है कि–नय और प्रमाण पृथक्-पृथक् क्यों माने जाते हैं ?

**समाधान** यह है कि–नय के माध्यम से पदार्थ का एकांशीज्ञान होता है, जब कि प्रमाण से सम्पूर्ण ज्ञान होता है। अतः नय को प्रमाणरूप स्वीकार न करके पृथक् माना जाता है। इस विषय को श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक में बड़े ही रोचक रूप में स्पष्ट किया गया है। 'जिस तरह समुद्र की एक बूँद को सम्पूर्ण समुद्र नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यदि समुद्र की एक बूँद को समुद्र कहा जाये तो शेष समुद्र के पानी को असमुद्र कहना पड़ेगा अथवा समुद्र के पानी की अन्य बूँदों को भी समुद्र कहना पड़ेगा।

जिससे समुद्र की असंख्यात दीर्घकालीन स्थिति होने के कारण 'अनवस्था दोष' उद्भावित होगा तथा व्यवहार-विरुद्धता भी, दोष भी। समुद्र की एक बूँद को भी असमुद्र नहीं कहा जा सकता। यदि समुद्र की एक बूँद को असमुद्र कहा जाये तो शेष अंश को भी समुद्र नहीं कहा जा सकता।"

ठीक इसी प्रकार वस्तु-पदार्थ के एक अंश के ज्ञान को वस्तु नहीं कह सकते, अन्यथा वस्तु के अन्य अंशों को अवस्तु मानना पड़ेगा। अतः जिस प्रकार समुद्र की एक बूंद को समुद्र अथवा असमुद्र नहीं कहा जा सकता है। तद्वत् वस्तु के एक अंश के ज्ञान को वस्तु नहीं कह सकते अन्यथा वस्तु के अन्य अंशों को अवस्तु मानना पड़ेगा। अतः जिस प्रकार समुद्र की एक बूंद को समुद्र अथवा असमुद्र नहीं कहा जा सकता, तद्वत् वस्तु के एक अंश के ज्ञान को प्रमाण या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। अतः नय और प्रमाण पृथक्-पृथक् हैं। नय, असंख्यात हो सकते हैं। सामान्य-निश्चय के भेद से नय का एक ही स्वरूप कहा गया है। यह श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक में स्पष्ट है। सामान्य तथा विशेष की अपेक्षा नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो भेद हैं। **श्रीसन्मतितर्क**

नामक महनीय ग्रन्थ में कहा गया है कि–'सामान्य और विशेष को छोड़कर नय का कोई अन्य विषय नहीं हो सकता। अतः समस्त नैगम आदि नयों का सामान्य और विशेष नयों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।'

श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक में भी द्रव्य तथा पर्याय के भेद से ही नयसार संक्षेप रूप से कहे गये हैं–'संक्षेपाद् द्वौ विशेषेण द्रव्य-पर्यायगोचरौ।' नयवाद के निरूपण में श्रीजैनग्रन्थों के अवलोकन से दो परम्पराएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं–तार्किक एवं सैद्धान्तिक। तार्किकों के अनुसार द्रव्यार्थिक नैगम आदि तीन तथा पर्यायार्थिक ऋजुसूत्र आदि चार नयभेद हैं। इस परम्परा के अनुयायी तार्किक श्री सिद्धसेन दिवाकर, माणिक्यनन्दी, वादिदेव-सूरि, प्रभाचन्द्र तथा महोपाध्याय यशोविजय जी महाराज आदि विश्वविश्रुत विद्वान् हैं।

दूसरी सैद्धान्तिक परम्परा के अनुसार द्रव्यार्थिक नैगमादि चार तथा पर्यायार्थिक शब्दादि तीन नयभेद हैं। इस महनीय परम्परा में प्रमुखतः श्रीजिनभद्रगणि, विनय-विजय जी तथा देवसेन आदि आचार्यों का उल्लेख किया जाता है। महोपाध्याय श्री यशोविजय जी महाराजश्री ने इन दोनों परम्पराओं का विधिवत् उल्लेख करते हुए कहा भी है–

**तार्किकाणां त्रयो भेदा-आद्या द्रव्यार्थिनो मताः ।**
**सैद्धान्तिकानां चत्वारः, पर्यायार्थगताः परे ।।**
[नयोपदेशः, श्लोकः १८]

**श्री विशेषावश्यक भाष्य** में तो नयभेदों के सन्दर्भ में विशद विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि–यदि पाँच नय स्वीकार करते हैं तो प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद करने पर पाँच सौ (५००) नयभेद होते हैं। यदि सात नय स्वीकार किये जाते हैं तो सात सौ (७००) भेद होते हैं। इस प्रकार यह सारांश है कि, वचनानुसार असंख्य नयभेद सम्भाव्य हैं ।। २८ ।।

[ २९ ]

**'वैदिकमते'** जम्बु-प्लक्ष-शाल्मलि - कुश-क्रौञ्च-शाक-पुष्करा इति सप्तद्वीपाः, लवणेक्षुरासुसर्पिदधिदुग्धजलार्णवाः इति सप्तसमुद्राश्च ।

**'बौद्धमते'** जम्बूपूर्वविदेहावरगोदानीयोत्तर कुरव इति चतुर्द्वीपा सप्त सीताश्च । **'श्रीजैनमते'** तु विश्वे असंख्याताः द्वीप-समुद्राः । तन्मात्रलोके परिमितानामेव जीवानां सम्भवात् संसारोच्छापत्तिरितिकृत्वा सर्वज्ञ-देवाधिदेव-श्रीजिनेश्वर - अर्हद्भाषितं जीवानन्त्यवादं स्तुवन् आह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवं भवो वा ,**
**भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।**
**षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्यम् ,**
**आख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ।। २९ ।।**

❀ **अन्वयः**–मितात्मवादे मुक्तः, अपि, भवम्, वा अभ्येतु । वा भवः, भवस्थशून्यः अस्तु । हे नाथ ! त्वं यथा षड्जीवकायम्, अनन्तसंख्यम्, आख्यः, तथा न दोषः ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी–मुक्तोऽपीति** । मुक्तः संसार–बन्धनोच्छेदं प्राप्तः । परमशान्तिं प्राप्तः । अपि शब्द-प्रयोगोऽत्र विस्मयार्थे कृतः । न मुक्तात्मानो भवं भ्रमन्ति । ते तथा स्युरिति विस्मयः ।

**अयं भावः**–यदि परिमिता एव जीवाः परवादिभिः स्वीक्रियन्ते तर्हि दोषद्वयमुत्पद्यते । सर्वैर्दार्शनिकैः जीवानां मुक्तिः स्वीकृता । प्रतिवर्षं एकोऽपि जीवो मुच्यते चेत् कियता कालेन भवस्वरूपहानिः स्यात् । भवन्ति, भविष्यन्ति, अभवन् यत्र स भवः कथ्यते । मुक्तात्मानां भवावतारो न भवति, यथा च देवानाम् अतो भवस्वरूप-

रक्षणार्थं मुक्ता अपि आगच्छन्ति चेत् तदापि दोषः, नहि मुक्तात्मानः भवं भ्रमन्ति। श्रीजैनमतानुसारेण अष्टोत्तर-षड्शतानि जीवाः षण्मासाष्टसमयेषु मुक्ता भवन्ति। एवं सति परिमितात्मवादे संसारः कदापि जीवैर्विरहितः स्यात् इति दोषः। आजीव-मस्करीत्यादीनां मते मुक्तोऽपि जीवः संसारे जन्म धारयतीति-'कर्माञ्जनसंश्लेषात् संसारसमा-गमोऽस्तीति' मस्करिदर्शनम्। इति गोम्मटसारे जीवकाण्डे प्रतिपादितत्वात्।

स्वामीदयानन्दमतानुसारेणापि महाकाल-पर्यन्तं मुक्ति-सुखमुपभुज्य, पुनरपि संसारे जन्म लभते। स्वकीयमत पुष्टौ स्वामीदयानन्दः सत्यार्थप्रकाशे ऋग्वेदस्य, मुण्डकोप-निषदस्य च प्रमाणं प्रस्तौति। मुण्डकोपनिषद् यथा–'ते ब्रह्मलोहपरान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे'। [मु० उ०–३/२/६]

मुक्तानां क्षीणकर्मणां न भवावतारः। यथा चोक्तं श्रीतत्त्वार्थाधिगम भाष्ये–

**दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।**
**कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः॥**

[१०/७]

**अयं भावः**–यथा सर्वात्मना बीजे भस्मीभूते सति महतापि प्रयासेन अनुकूलसाधनेनाऽपि अङ्कुरप्ररोहो नैव भवति तथैव 'कर्ममूलमिदं जगत्' यावत् कर्ममूलं तावज्जगत्। सर्वप्रकारेण तत्त्वज्ञानेन कर्मक्षये सति न पुनर्भवप्ररोहः। 'मुक्तो जीवो भवं न गच्छति'।

श्रीपतञ्जलिरप्येवमाह योगदर्शने "सति मूले तद्-विपाको जात्यायुर्भोगाः।" अर्थात्-'सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति, नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धा शालि-तण्डुला अदग्धबीजभावाः। तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोहा भवति। नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्ध-क्लेशबीजभावो वेति। स च विपाक-स्त्रिविधो जातिरायुर्भोगः इति'। अक्षपादोऽपि गौतमसूत्रे प्रोक्तवान्-'न प्रवृत्तिः प्रतिसाधनाय हीनक्लेशस्येति'। एवं शिवराजर्षिमतं दूषितम्।

**षड्जीवकायमिति।** पृथिव्यप्तेजो वायु-वनस्पति-त्रसलक्षणं षड्जीवकायम् इति। षण्णां जीवकायानां समाहारः इति षड्जीवकायम् द्विगुसमासः। श्रीजैन-समाधानपक्षे निकायशब्दोऽपि दृश्यते। निचीयन्ते जीवाः यस्मिन् असौ निकायः। निपूर्वकचि धातोः 'निवास-चितशरीरेषु' इति सूत्रे घञि वृद्धौ आदेशश्च कारस्य कारो

निपत्येते-निकाय इति । श्री जैनसिद्धान्तेऽसंख्यातेषु द्वीप-समुद्रेषु सर्वतो न्यूना: त्रसजीवा:, ततोऽधिका: अग्नि, कायिका:, ततोऽधिका: पृथ्वीकायिका:, ततोऽधिका: जलकायिका:, ततोऽधिका: वायु कायिका:, ततोऽधिका: वनस्पतिकायिका: । वनस्पति-कायिका: जीवा: व्यवहारा व्यवहारिकभेदाभ्यां द्विधा भवन्ति । ये जीवा: निगोदान् नि:सृत्य पृथिवीकायिकाद्यवस्थां प्राप्य पुनश्च निगोदा-वस्थां प्राप्नुवन्ति ते **'व्यवहारिका:'** कथ्यन्ते । ये च जीवा अनादिकालतो निगोदावस्थायामेव तिष्ठन्ति तेऽ व्यवहारिका: सन्ति ।

श्री जैनमतानुसारेऽसंख्याता गोला: सन्ति । यथा चोऽक्तम्-

**गोला य असंखिणिग्गोय गोलओ भणिओ ।**
**इक्किक्कम्मि णिगोए अनन्त जीवा मुणे अव्वा ।। १ ।।**

**सिज्झन्ति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरा सीओ ।**
**एंति अणाइवणस्सइ रासीइ तत्तिआ तम्मि ।। २ ।।**

**संस्कृतच्छाया-**

**गोलाश्च असंख्येया:, असंख्यनिगोदो गोलको ।**
**एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तजीवा ज्ञातव्या: ।। १ ।।**

**सिध्यन्ति यावन्तः खलु इह संव्यवहारजीवराशितः ।**
**आयान्ति अनादिवनस्पतिराशितस्तावन्तस्तस्मिन् ।। २ ।।**

असंख्याताः गोलाः, प्रत्येकस्मिन् गोलकेऽसंख्याताः निगोदाः, एकस्मिन् निगोदेऽनन्ताजीवाः वसन्ति । यावन्तो जीवा व्यवहारराशेर्निःसृत्य मोक्षं गच्छन्ति तावन्तो जीवा वनस्पतिराशेर्व्यवहारराशिमागच्छन्तीति कृत्वा न कदापि संसारोच्छेदापत्तिः । भव्याभव्यभेदाभ्यामपि श्री जैन-सिद्धान्ते जीवा-विमर्शः समुल्लसति । ये जीवा मोक्ष-गामिनस्ते भव्याः । अतिक्रान्तेऽप्यनन्तकाले ये जीवा मोक्षं प्राप्तुं नैव शक्नुवन्ति तेऽभव्याः इति । अतो भव्य-जीवानां मोक्षानन्तरमपि नैव संसार-स्वरूप-हानि-रितिशम् ।

**– भाषानुवाद –**

वैदिकमत में जम्बु, प्लक्ष, शालमलि, कुश, क्रोञ्च, शाक, पुष्कर नामक सात द्वीप तथा लवण, इक्षु, रासु, सर्पि, दधि, दुग्ध, जल नामक सात समुद्र हैं । बौद्ध मत में जम्बु, पूर्वविदेह, अवर गोदानीय उत्तरकुरु नामक चार द्वीप तथा सप्त समुद्र हैं ।

श्री जैनमत में तो असंख्यात द्वीप एवं असंख्यात समुद्र हैं । परिमित लोक में तो परिमित जीवों की स्थिति सम्भव

है। ऐसी स्थिति में मोक्षस्थिति को देखते हुए एक समय ऐसा भी सम्भव है, जब संसार में कोई जीव ही न रहे। इस प्रकार सांसारिक व्यवस्था का उच्छेद हो जायेगा। अत: सर्वज्ञ देवाधिदेव श्री जिनेश्वर अरिहन्त भगवान द्वारा प्ररूपित जीवानन्त्यवाद ही श्रेयस्कर है। अत: श्रीजिन-अर्हद्भाषित जीवानन्त्यवाद की स्तुति करते हुए कलिकाल सर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजश्री कहते हैं–

❀ **श्लोकार्थ**–जो दार्शनिक जीवों को परिमित (संख्यात) स्वीकार करते हैं, उनके मतानुसार या तो मुक्त जीव पुन: संसार में जन्म ग्रहण करें अथवा एक दिन संसार जीवों से रहित हो जायेगा, जिससे संसारोच्छेद दोष की उद्भावना होगी। हे वीतरागदेव अरिहन्त परमात्मा आपने जो षड्जीवनिकाय को अनन्त कहा है, उस स्थिति में कहीं भी दोष नहीं है। अर्थात् परवादियों को भी आप के जीवानन्त्यवाद की शरण लेनी चाहिए।

卐 **भावार्थ**–संसार के समस्त बन्धनों से, कर्मबन्धन से रहित होना **'मोक्ष'** कहलाता है। संसार में प्राणी का जन्म ही कर्मबन्धनों के कारण होता है, कर्म बन्धन टूट जाने पर 'मोक्ष' हो जाता है। मुक्त आत्मा कर्मरहित

होता है, अतः पुनः संसार में परिभ्रमण नहीं करता, किन्तु यदि परिमित-जीववाद स्वीकार करते हैं तो दो प्रकार के दोष उपस्थित होते हैं। यदि सामान्यतः प्रतिवर्ष एक जीव (आत्मा) की मुक्ति स्वीकार की जाये तो भी संसार की स्थिति सम्भव है। वस्तुतः सर्वज्ञ विभु श्रीजिनेन्द्र भाषित जैनधर्म के अनुसार तो प्रत्येक छह मास आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष जाते हैं।

(१) परिमित जीववाद के पक्ष में तो संसार, जीवों से एक दिन खाली हो जायेगा।

(२) दूसरा दोष यह है कि, मुक्तात्मा का कर्म रहित होने के कारण संसार में जन्म नहीं होता, क्योंकि कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति सम्भव नहीं है। संसार में उत्पत्ति का कारण कर्मबन्धन है। कर्मबन्धन ही संसार-बन्धन है। कर्मबन्धन न होने पर भी परिमित जीव-वादियों के मत में मुक्तात्माओं को भी संसार की व्यवस्था बनाये रखने के लिए संसार में जन्म ग्रहण करना होगा, जबकि यह नियमविरुद्ध है। श्रीपतञ्जलि, व्यास, अक्षपाद आदि की भी यही मान्यता है कि आत्मा कर्मों का सर्वथा क्षय होने पर संसार में पुनः जन्म नहीं लेता है। किन्तु आजीवक, मस्करी (गोशाल) तथा स्वामी दयानन्द आदि

ने अमुक काल के पश्चात् मुक्त जीव (आत्मा) पुनः संसार में जन्म लेता है, ऐसा स्वीकार किया है। स्वामी दयानन्द तो ऋग्वेद तथा मुण्डकोपनिषद् का उद्धरण भी प्रामाणिकता के लिए प्रस्तुत करते हैं–'वे मुक्त जीव महाकल्प कालपर्यन्त मोक्ष सुख का अनुभव कर के पुनः संसार में जन्म ग्रहण करते हैं।' यह बात उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' में कही है।

श्रीतत्त्वार्थाधिगम भाष्य में स्पष्ट रूप से कहा है कि-मुक्तात्मा संसार में जन्म ग्रहण नहीं करते हैं–'जिस प्रकार बीज के जल जाने पर बीज से अंकुर पैदा नहीं होते, ठीक उसी प्रकार कर्मबीज के नष्ट होने पर संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता।' तात्पर्य यह है कि–जिस प्रकार पूर्ण रूप से बीज के जल जाने पर अत्यन्त अनुकूल (जल-सिंचन-पोषक तत्त्व) साधनों के द्वारा प्रयास किये जाने पर भी अंकुर नहीं फूटता, दग्धबीज अंकुरित नहीं होता है, उसी प्रकार यह संसार कर्ममूलक है। जब तक कार्य का सम्बन्ध बना रहता है, तब तक संसार की स्थिति रहती है। जन्म-मरण का चक्र अबाधगति से चलता रहता है, किन्तु सर्व प्रकार से तत्त्वज्ञान के द्वारा कर्मबन्धन के सर्वथा क्षीण होने पर पुनः उस मुक्तात्मा का संसार में

जन्म नहीं होता है। श्रीपतञ्जलि ने भी योगदर्शन में इस सत्य को उजागर करते हुए स्पष्ट लिखा है–

'मूल के रहने पर ही जाति, आयु और भोग रहते हैं।' अर्थात् क्लेशों के होने पर ही कर्मों की शक्ति फल दे सकती है। क्लेश के उच्छेद होने पर कर्म फल नहीं देते, जिस प्रकार छिलके से युक्त चावलों से तो अंकुर उत्पन्न हो सकते हैं, छिलका उतार देने से चावलों में उत्पादक शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार क्लेशों से युक्त कर्मशक्ति फल देती है, क्लेशों के नष्ट हो जाने पर कर्म-शक्ति में विपाक नहीं होता है।

यह विपाक, जाति, आयु और भोग के भेद से तीन प्रकार का होता है। श्री अक्षपाद ने भी स्वीकार किया है– 'जिसके क्लेशों का क्षय हो जाता है, उसकी प्रवृत्ति बन्ध का कारण नहीं होती है।' इस प्रकार से श्री शिवराज ऋषि के मत का खण्डन हो जाता है, तथा अनन्त जीववाद की पुष्टि होती है।

**'षड्जीवकायमिति।'** पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति तथा त्रस इन छः प्रकार के जीवों को **'षड्काय जीव'** कहते हैं। जीवों का काय (शरीर) जीवकाय तथा छह जीवकायों का समूह अर्थ करने पर समाहार

अर्थ में द्विगुसमास हुआ है। श्रीजैनागमशास्त्रों में निकाय शब्द का भी प्रयोग है–**'षड्जीवनिकाय'**। व्युत्पत्ति का निदर्शन **'स्याद्वाद-बोधिनी'** संस्कृत व्याख्या में स्फुट है।

श्रीजैनसिद्धान्त में द्वीपों एवं समुद्रों के असंख्यात होने के साथ-साथ अनन्तानन्त जीव भी उन असंख्य द्वीपों एवं समुद्रों में निवास करते हैं। वहाँ सबसे कम त्रसकाय जीव, उनसे अधिक अग्निकाय, अग्निकाय से अधिक पृथिवीकाय, उनसे अधिक अप् (जल) काय, उनसे अधिक वायुकाय तथा वायुकाय से अधिक अनन्तगुने वनस्पतिकाय जीव हैं। वनस्पतिकाय जीव व्यावहारिक एवं अव्यावहारिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

जो जीव निगोद से निकलकर पृथिवीकाय आदि अवस्था को प्राप्त करके फिर से निगोद अवस्था को प्राप्त करते हैं वे जीव व्यावहारिक हैं तथा जो जीव अनादिकाल से निगोद अवस्था में ही पड़े हैं वे अव्यावहारिक कहलाते हैं। श्रीजैनसिद्धान्त के अनुसार असंख्यात गोल हैं, जिनके सन्दर्भ में कहा है–

'गोल असंख्यात होते हैं, एक गोल में असंख्यात निगोद रहते हैं और एक निगोद में अनन्त जीव रहते हैं।

जितने जीव व्यवहार राशि से मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव अनादि वनस्पति की राशि से निकलकर व्यवहार राशि में आ जाते हैं।' अतएव यह संसार कभी जीवों से रिक्त नहीं होता है।

भव्य और अभव्य के भेद से भी श्री जैन आगमों में जीवों को दो भागों में विभक्त करके विमर्शपूर्वक कहा है कि–जो मोक्षगामी जीव हैं, वे **भव्य** तथा जो अनन्तकाल बीतने पर भी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते, वे **अभव्य** कहलाते हैं। अतः भव्य जीवों के मोक्ष के पश्चात् भी संसारोच्छेदापत्ति दोष उपस्थित नहीं हो सकता है। जीवानन्त्यवाद के सर्वथा निर्दोष होने के कारण यह सर्वमान्य होना चाहिए।

सर्वज्ञविभु देवाधिदेव श्री जिनेश्वर अरिहन्त भगवान को त्रिकालाबाध्य अद्वितीय वाणी में तो लेशमात्र भी सन्देह या किसी प्रकार के दोष की सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि वे यथार्थ द्रष्टा और यथार्थ वक्ता हैं ॥ २७ ॥

[ ३० ]

परस्परमसूयावन्तोऽन्ये दार्शनिकाः विवदन्तोऽक्षतः समग्रनयस्वरूपत्वाद् भगवतोऽरिहन्तस्य मात्सर्यरहितं सिद्धान्तमाविष्करोतीति कृत्वा प्राह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्-**
**यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।**
**नयानशेषानविशेषमिच्छन् ,**
**न पक्षपाती समयस्तथा ते ।। ३० ।।**

❀ **अन्वयः**–यथा परे, प्रवादाः, अन्योऽन्यपक्ष-प्रतिपक्ष-भावात्, मत्सरिणः, अशेषान्, नयान्, अविशेषम्, इच्छन् ते समयः तथा न पक्षपाती ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी–अन्योऽन्यमिति ।** पक्षश्च प्रति-पक्षश्चेति पक्षप्रतिपक्षौ, अन्योऽन्यं च पक्षप्रतिपक्षौ तयोर्भाव-स्तस्मात् अन्योऽन्यपक्ष-प्रतिपक्षभावात् । वदनं वादः वद् धातोःघञि, उपधावृद्धौ-प्रकृष्टश्चासौ वादः प्रवादः । प्रवादश्च प्रवादश्च प्रवादश्चेति प्रवादाः–'स्वरूपाणामेक-शेषएकविभक्तौ' इति परे दार्शनिकाः पक्षप्रतिपक्षाश्रयिणौ भवन्ति । स्वपक्षं साधयन्ति । युक्तया परपक्षं लुनन्ति । अतस्ते मिथो मत्सरिणो भवन्ति । ईर्ष्यालवः परोत्कर्ष-सहनेऽसमर्थाः द्रुह्यन्ति ।

ते–भवतः **समयः**–सम् पूर्वक इष् धातोः 'एरच्' इति सूत्रेण अच् प्रत्ययः, यद्वा 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति

घ प्रत्ययः । सम्यग् अयति गच्छति इति समयः आगमः सिद्धान्तो वा मत्सरातीतः नैव विरुणद्धि । ततो मत्सरातीत एव विशेषः । अतएव सर्वान् नयान् अविशेषेण इच्छन् पक्षपातरहितो भवति । स एव अतिशयेन श्रेयान् । इति भावः ।

महोपाध्यायश्रीयशोविजयोऽप्याह 'नयप्रदीपे' परस्परविरुद्धा अपि सर्वे नयाः समुदिताः सम्यक्त्वं भजन्ति ।

एकस्य जिनसाधोर्वशवर्त्तित्वात् यथा नानाभिप्रायभृत्यवर्गवत् । यथा धन-धान्य-भूम्याद्यर्थं परस्परं विवदमाना बहवोऽपि सम्यग्न्यायवता केनाप्युदासीनेन युक्तिभिर्विवादकारणान्यपनीय मील्यन्ते । तथेह परस्परविरोधिनोऽपि नयान् श्रीजैनसाधुविरोधं भंक्त्वा एकत्र मीलयन्ति । तथा प्रचुरविषलवा अपि प्रौढमन्त्रवादिकनिर्विषी कृत्यकुष्टादिरोगिणे दत्वा अमृतरूपत्वं प्रतिपद्यन्ते एवेति ।' अन्यच्च तेनैव बहुश्रुतेन अध्यात्मोपनिषदि प्रोक्तम्-

**"यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव ।**
**तस्यानेकान्तवादस्य क्वन्यूनाधिकशेमुषी ।।**
**तेन स्याद्वादमालंब्य सर्वदर्शनतुल्यताम् ।**
**मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित् ।।**

[अध्यात्मोपनिषद्-६१, ७०]

अतः स्याद्वादः श्रेयान् । न क्वापि विरोधः ।

**उक्तञ्च–**

**"इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यै-र्विरुद्धै-र्गुम्फितं गुणैः ।**
**सांख्यः संख्यावतां मुख्यो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ।। ४५ ।।**
**चित्रमेकमनेकं च, रूपं प्रामाणिकं वदन् ।**
**योगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ।। ४६ ।।**
**प्रत्यक्षं भिन्न मात्रांशे, मेयांशो तद् विलक्षणम् ।**
**गुरुर्ज्ञानं वदन्नेकं, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ।। ४७ ।।**
**जाति-व्यक्त्यात्मकं वस्तु, वदन्ननुभवोचितम् ।**
**भट्टो वा मुरारिर्वा, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ।। ४८ ।।**
**अबद्धं परमार्थेन, बद्धं च व्यवहारतः ।**
**ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ।। ५० ।।**
**ब्रुवाणा भिन्न-भिन्नार्थान्, नयभेद-व्यपेक्षया ।**
**प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः, स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकम् ।। ५१ ।।**

[अध्यात्मसार–४५-५१]

अतः समन्वयात्मकोऽयं स्याद्वादसिद्धान्तः ।

## – भाषानुवाद –

अन्य दार्शनिक परस्पर ईर्ष्याभाव रखते हुए एक-दूसरे के पक्ष को खण्डित करते हुए विवाद करते हैं ।

अतः सम्पूर्ण नय स्वरूप को अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) के रूप में स्वीकार करके समन्वय सूत्र के रूप में मात्सर्यभाव से रहित श्री अरिहन्तदेव द्वारा प्ररूपित सिद्धान्त ही श्रेयस्कर है। इस बात को प्रगट करते हुए कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य महाराज कहते हैं–

❋ **श्लोकार्थ**—अन्य दार्शनिक परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव के कारण एक-दूसरे से ईर्ष्याभाव रखते हैं, किन्तु सर्वज्ञविभु हे जिनेश्वरदेव ! समस्त नयों को एक समान रूप से स्याद्वादात्मक अनेकान्त रूप से प्रस्तुत करने वाले आपके सिद्धान्त में किसी प्रकार के पक्षपात का भाव नहीं है। अतः वह समन्वय सूत्र है, परम श्रेयस्कर है।

卐 **भावार्थ–अन्योऽयमिति।** अभीष्ट अर्थ को प्रकृष्ट एवं प्रशस्त रूप में प्रतिपादित करने को **प्रवाद** कहते हैं। वद् धातु से घञ् प्रत्यय उपधा वृद्धि करने पर 'प्रकृष्टश्चासौ वादः' मध्यम पद लोपी समास करने पर **'प्रवादः'** शब्द की निष्पत्ति होती है। उसका बहु-वचनान्तरूप **'प्रवादाः'** होता है। अन्य दार्शनिक पक्ष और प्रतिपक्ष का आश्रय लेते हैं। वे स्वकीय मत को युक्तिपूर्वक साधने का प्रयास करते हैं तथा अन्य के मत का ईर्ष्याभाव पूर्वक खण्डन करते हैं। ऐसी स्थिति में वे

दार्शनिक मात्सर्यभाव से ग्रसित रहते हैं। ईर्ष्यालुजन किसी अन्य के उत्कर्ष को सहन करने में असमर्थ होते हैं। किन्तु हे देवाधिदेव वीतराग-विभो! आपका निखिल नयानुसारी **अनेकान्तवाद-स्याद्वाद सिद्धान्त** किसी भी प्रकार के पक्षपात-भाव से लिप्त न होने के कारण, और समन्वय संस्थापित करने के कारण सर्वथा मात्सर्य भाव-रहित एवं सर्वमान्य है और श्रेयस्कर भी है।

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-वाचकप्रवर श्री यशोविजय जी महाराज ने भी '**नयप्रदीप**' ग्रन्थ में आपके स्याद्वाद-सिद्धान्त को सर्वनयानुसारी समन्वय सूत्र बताते हुए कहा है–पारस्परिक विरोध रखने वाले नय भी एकत्र दशा में सम्यक्त्व स्थिति से अनुप्राणित हो जाते हैं। अर्थात् जिस समय परस्पर निरपेक्ष वचनों के अनुसार '**स्यात्**' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वे नय सम्यक्त्व रूप हो जाते हैं। जिस प्रकार धन, धान्य, भूमि आदि के लिए परस्पर विवाद करने वाले लोग किसी निष्पक्ष व्यक्ति के द्वारा समझाने पर, विवाद छोड़कर मेल-मिलाप से रहते हैं; उसी प्रकार परस्पर विरोधी नयों को भी समर्थ विद्वान् जैनसाधु श्रीजैन सिद्धान्त स्याद्वाद द्वारा दूर करके समन्वित कर देता है।

जिस प्रकार मन्त्रवादी विष-खण्ड को अनेक प्रकार से शुद्ध करके, विषरहित कर के कोढ़ आदि के रोगी को प्रदान करके रोग-निर्मुक्त कर देता है। **श्रीअध्यात्मसार ग्रन्थ** में भी उन्होंने कहा है कि–

'जिस प्रकार पिता अपने समस्त पुत्रों को समान भाव से रखता है, उसी प्रकार अनेकान्तवाद-स्याद्वाद भी समस्त नयों को समभाव से देखता है। अतः जो स्याद्वाद का अवलम्बन लेकर सभी दर्शनों की तुल्यता समानता को देखता है, वही शास्त्रज्ञ है, वही सम्यग् द्रष्टा है।' स्याद्वाद-दर्शन श्रेयस्कर है। इसमें कहीं भी दोष या विरोध की सम्भावना नहीं है ।। ३० ।।

( ३१ )

पूर्वोक्तप्रकारेण कतिपयपदार्थविवेचनं – विधाय स्वकीयमसामर्थ्यं विनीतभावेन प्रदर्शयन् यथार्थवादिनोऽर्हतः स्तुतिं कुर्वन्नाह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तुं,**
**आशास्महे चेद महनीयमुख्य ।**
**लङ्घेम जङ्घालतया समुद्रं,**
**वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ।। ३१ ।।**

卐 अन्वय–हे महनीयमुख्य ! ते निखिलम् वाग् वैभवम्, विवेक्तुम् चेत् (वयम्) आशास्महे (तर्हि) जङ्घालतया समुद्रम्, लङ्घेम, चन्द्रद्युति-पानतृष्णाम् वहेम ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी–वाग्वैभवमिति ।** मह पूजायां धातुः, महितुं योग्यो महनीयः । महधातोः कर्मणि अनीयर् प्रत्ययः । मुखमिव प्राधान्यमिति मुख्यम् । महनीयेषु मुख्यः इति महनीयमुख्यः तस्य सम्बोधने–हे महनीय मुख्य ! सम्यग् बोधनं सम्बोधनम् । तत्रापि प्रथमा विभक्तिर्भवति । 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सोरवयवस्य सस्यलोपः । स्वाराध्यदेवं सम्मुखीकृत्य किमपि निवेद्यते । अन्येभ्यो व्यावृत्य देवाधिदेवं भगवन्तं प्रति कलिकालसर्वज्ञाचार्यप्रवरश्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरस्य उक्तिश्च सम्भावनेऽव्ययम् । ते-भवतः विभव एव वैभवम् । 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति अण् प्रत्ययः । वाचां वैभवम्-वाग्-वैभवम् भवतो निरतिशयोक्ति निखिलं-सम्पूर्णं यदि विवेक्तुम्-पृथग्भावे पृथक् कर्त्तुं-विचारयितुं वयम् आशास्महे=कामयामहे ।

अत्र 'आत्मनि गुरौ बहुत्वम्' । तदा जङ्घालस्य भावः जङ्घालता तया समुद्रं=सागरं लङ्घेम-पारयेम-

साहसातिशय प्रदर्शनमेतत् । चन्द्रस्यद्युतयस्तासां पानं तस्य तृष्णा ताम्–विधुमरीचिवानकामनां वहेम धारयेमेति दिग् ।

## – भाषानुवाद –

पूर्वोक्त प्रकार से श्री जिनवाणी के अनुसार कतिपय-पदार्थों का विवेचन करके कलिकालसर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वर जी महाराज अपनी विनय प्रस्तुत करते हुए कहते हैं–

❀ **श्लोकार्थ**–हे पूज्यप्रवर ! आपके द्वारा निरूपित समस्त वाग्विभव का यदि मैं वर्णन करने का साहस करूँ तो यह मेरा साहस विशाल समुद्र को जंघाबल से तैरकर पार करने की अभिलाषा के समान तथा चन्द्रमा की चाँदनी का पान करने की लालसा की भाँति हास्यास्पद होगा । अर्थात् मैं आपके वाग् वैभव को पूर्णतः वर्णित करने में असमर्थ हूँ ।

卐 **भावार्थ**–शाब्दिक व्युत्पत्ति संस्कृतवृत्ति-टीका से ही गतार्थ है । अतः भाषानुवाद में पिष्टपेषण पुनरुक्ति करना उचित नहीं है ।। ३१ ।।

[ ३२ ]

सम्प्रति कलिकालसर्वज्ञः श्रीहेमचन्द्राचार्योऽन्ययोग-व्यवच्छेदमुपसंहरन्नाह–

卐 **मूलश्लोकः–**

**इदं तत्त्वातत्त्व व्यतिकरकरालेऽन्धतमसे ,**
**जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा विनिहितम् ।**
**तदुद्धर्त्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचनः ,**
**त्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥ ३२ ॥**

❀ **अन्वयः–**हतपरैः, मायाकारैः इव, हा, इदम्, जगत्, तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकराले, अन्धतमसे विनिहितम् । नियतम्, अविसंवादिवचनः, त्वम्, एव, तत्, उद्वर्त्तुम्, शक्तः । अतः त्वयि, कृतसपर्याः, कृतधियः (सन्ति) ।

卐 **स्याद्वादबोधिनी–इदमिति ।** इदं प्रत्यक्षं दृश्य-मानं जगत्-इदमस्तु सन्निकटे प्रयोगः । तत्त्वं च अतत्त्वं चेति तत्त्वातत्त्वे तयोर्व्यतिकरो व्यामिश्रणं तेन कराले-अतिभयावहे, अतिशयेन अन्धं तमः इति अन्धतमः तस्मिन्-अन्धतमसे प्रगाढान्धकारे । मायामिन्द्रजालं कुर्वन्तीति मायाकारास्तैर्मायाकारैः परवञ्चननिपुणैः हननं हतम्-भावे क्तः-परमर्महननकुशलैः परैः वेदान्तादिदार्शनिकैः,

विनिहितम्–'दधातेर्हि' इतिसूत्रेण धा धातोः हि आदेशः। परतीर्थिकैरपि दुरधीतकुतर्कयुक्तीरुदश्र्य जगदीदं व्यामोह-निबिडान्धकारे पातितमित्याशयः। तत्-जगद् उद्धर्तुम् उपकर्त्तुम् नियतं यथा स्यात् तथैतिक्रियाविशेषणम्। अविसंवादिवचनः–यथार्थोपदेष्टा स्याद्वाद प्रवर्तकत्वात् त्व-मेव भवानसि शक्तः समर्थः।

अन्येऽपि विसंवादिनः यतो हि ते-कषच्छेद-तापलक्षण परीक्षात्रयेण विशुद्धं वचनं न गिरन्ति। अतएव ते संसारं महामोहान्धकारे पातयन्ति। याकिनीमहत्तरा धर्मसूनुना चतुर्दशशतचत्वारिंशद्ग्रन्थकर्त्तृणा श्रीहरिभद्रसूरिणापि कथितं यत् कषच्छेदतापलक्षणत्रयविशुद्धिमन्तरा न धर्मो धर्मत्वं भजते। तद् यथा–

**पाणवहाई आणं पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो।**
**झाणज्झयणाईणं जो य विही एस धम्मकसो॥ १॥**

**वज्झाणुट्ठाणेणं जेणण बाहिज्जए तयं णियमा।**
**संभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति॥ २॥**

**जीवाइ भाववाओ वंधाइपसाहगो इहं ताओ।**
**एएहिं परिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेह॥ ३॥**

**संस्कृतच्छाया–**

**प्राणवधादीनां यस्तु, पापस्थानानां प्रतिषेधः ।**
**ध्यानाध्ययनादीनां, यश्च विधिरेष धर्मकषः ॥ १ ॥**
**बाह्यानुष्ठानेन येन, न बाध्यते तन्नियमात् ।**
**संभवति च परिशुद्धं, स पुनधर्मे छेद इति ॥ २ ॥**
**जीवादिभाववादो, बन्धादि प्रसाधक इहताप: ।**
**एएहिं परिशुद्धो धर्मो धर्मत्त्वमुपैति ॥ ३ ॥**
[श्री हरिभद्रसूरिकृत पञ्चवस्तुक चतुर्थद्वारे]

**कृतधिय इति ।** कृता तत्त्वाधाने निपुणाधीर्मनीषा येषां ते कृतधियः । कृता सपर्य्या यैस्ते कृतसपर्याः, मनसा, वाचा, कायया भवन्तमेवाराधनतत्पराः ते कृतकृत्याः सन्ति ।

**– भाषानुवाद –**

कलिकालसर्वज्ञ, परमार्हतश्रीकुमारपालभूपाल-प्रतिबोधक, सार्ध त्रिकक्रोड श्लोककारक आचार्यप्रवर श्रीमद्-हेमचन्द्रसूरीश्वर जी महाराजश्री प्रस्तुत **'अन्ययोगव्यवच्छेदिका'** नामक ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए कहते हैं–

❀ **श्लोकार्थ**–ऐन्द्रजालिक (मदारियों) की भाँति अन्य दार्शनिकों ने इस संसार को व्यामोहरूपी गहन

अन्धकार में डुबो रखा है। अतः आप ही इस दुःखित जगत् का उद्धार कर सकते हैं। क्योंकि आपके स्याद्वाद सम्पृक्तवचन विसंवाद से सर्वथा रहित हैं। हे विश्व-जगत् के त्राणकर्त्ता! जो लोग आपके चरणारविन्द की सेवा में लीन हैं, वे कृतार्थ हैं और उनकी सेवा-पूजा सार्थक है।

卐 **भावार्थ–इदमिति।** प्रत्यक्षरूप से, निकट ही दृश्यमान यह विश्व-जगत् मायिकों (मदारी जैसी क्रिया में चञ्चल/व्यामोहित करने वालों) के द्वारा तत्त्व और अतत्त्व के अभेद से भयावह अन्धकार पूर्ण बना दिया गया है। अर्थात्–जैसे जादूगर, लोगों की (दर्शकों की) बुद्धि को भ्रान्त कर देते हैं, ठीक उसी प्रकार कुतर्कवादों से वेदान्तादि दर्शनों के द्वारा भी तत्त्व और अतत्त्व के अभेद से विश्व-जगत् को मायाजाल में फँसा दिया है।

हे जिनेश्वर देवाधिदेव! आपके वचनामृत विसंवाद से सर्वथा रहित हैं। क्योंकि, विसंवादपूर्ण वे वचन होते हैं, जिन्हें कष, छेद, ताप रूप परीक्षाओं के बिना ही प्रयोग में लाया जाता है। वह विसंवाद परवादियों के मत में दृष्टिगोचर होता है; आपके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त में नहीं। क्योंकि, आपके वचन परीक्षात्रय के

पश्चात् यथार्थवाद के रूप में ही विनिःसृत होते हैं। कष आदि के संदर्भ में कहा भी है—

प्राणवध इत्यादि पापस्थानों के परित्याग और ध्यान, अध्ययन आदि की विधि को '**कष**' कहते हैं ।। १ ।।

जिन बाह्यक्रियाओं में धर्म में बाधा न आती हो और जिससे निर्मलता की वृद्धि हो, उसे '**छेद**' कहते हैं ।। २ ।।

जीव से सम्बद्ध दुःख और बन्ध को सहन करना '**ताप**' कहलाता है ।। ३ ।।

अतः विसंवादी परतैर्थिकों के वचन उक्त परीक्षात्रय-शुद्धिपूर्वक न होने के कारण विसंवाद ग्रस्त हैं। जो स्वयं विसंवादग्रस्त है, वह सन्मार्ग प्रदर्शित नहीं कर सकता। भटका हुआ, क्या राह दिखायेगा ?

हे जिनेश्वरदेव ! आप लोकत्रय की रक्षा करने में अद्वितीय समर्थ हैं, मोहात्मक अन्धकार से संसार को मुक्त करने में समर्थ हैं। आपकी स्याद्वादात्मक वाणी लोककल्याणी है। अतः आपकी पूजा करने वाले कृतार्थ हैं।

□□

# ॐ प्र श स्तिः ॐ

**श्रीआदिनाथं** किल **शान्तिनाथं,**
**श्रीनेमिनाथं** प्रभु **पार्श्वनाथम् ।**
देवाधिदेवं **विभुवर्द्धमानं,**
स्तुवे जिनान् पञ्च सदैव भक्त्या ॥ १ ॥

**श्रीवीरस्य** जिनेन्द्रस्य,
शासनाधिपतेः प्रभोः ।
प्रख्यातं सर्वलोकेऽस्ति,
पट्टं धर्मधुरन्धरम् ॥ २ ॥

तत्र स्वामी **सुधर्माख्यो,**
गणीन्द्रः श्रुतकेवली ।
**निर्ग्रन्थनामकं** गच्छ-
मतनोद् भुवि निर्मलम् ॥ ३ ॥

कोटिशः सूरिमन्त्रस्य,
जपात् **सुस्थितसूरिभिः ।**
**कोटिगच्छमतिस्वच्छं,**
स्थापितं तन्महीतले ॥ ४ ॥

**चन्द्रं** चन्द्रोज्ज्वलं भूयः,
सद्यशोरश्मिशोभितः ।
गच्छं सौम्यमनुचक्रे,
**श्रीचन्द्रः सूरिपो** महान् ॥ ५ ॥

**सर्वदेवाख्य - सूरीशः,**
सर्वं श्रेयस्करं कलम् ।
**वटगच्छं** पवित्रं **वै,**
विशालं तदनुव्यधात् ॥ ६ ॥

**श्रीमेदपाटभूप्राप्त-**
महातपापदैर्भुवि ।
**श्रीजगच्चन्द्रसूरीशै-**
स्तपागच्छः प्रवर्तितः ॥ ७ ॥

परम्परागते स्वच्छे,
तपागच्छेऽत्रभूतले ।
**यवनाकबरेलेश-,**
प्रतिबोधकरावराः ॥ ८ ॥

धीर - वीरत्व - हीरत्व-
गभीरत्वादि सद्गुणाः ।
जगद्गुरुवराः ख्याताः,
श्रीमन्तो **हीरसूरयः** ॥ ९ ॥

**प्रतापिसेनसूरीशै-,**
दक्षैः **श्रीदेवसूरिभिः** ।
वादीभसिंहसदृशैः,
**सिंहसूरीश्वरैः** क्रमात् ॥ १० ॥

उल्लासिते तपागच्छे,
विजयवृद्धिकारकाः ।
श्रीवृद्धिविजया जाताः,
**वृद्धिचन्द्रादयः** परे ॥ ११ ॥

तेषां वै शान्तिमूर्त्तीनां,
पादाब्जमधुपोपमाः ।
सर्वशासनसम्राजो-
विभ्राजो ज्ञानराशिभिः ॥ १२ ॥

सत्तीर्थोद्धारकाः प्रौढाः,
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रकाः ।
सूरिमन्त्रैकप्रस्थान-
पञ्चकाराधकास्तथा ॥ १३ ॥

ब्रह्मचारिवरा धीराः,
**नेमिसूरीश्वरा** इह ।
क्षमाधरार्चिता जाता-
स्तत्पटाम्बरभास्कराः ॥ १४ ॥

अष्टलक्षाधिकश्लोक-
मितस्य संस्कृतस्य वै ।
साहित्यस्य विधातारः,
कृतीशाः कीर्तिशोभिताः ।। १५ ।।

शान्ताः साहित्यसम्राजो-
विभ्राजो ज्ञानिमण्डले ।
विख्याता व्याकरणे वा-
चस्पतयः कविरत्नकाः ।। १६ ।।

शास्त्रविशारदाः जाताः,
**लावण्यसूरिशेखराः** ।
तेषां पट्टधरा मुख्याः,
ख्याताः शास्त्रविदो बुधाः ।। १७ ।।

कविदिवाकरादक्षाः,
शास्त्रव्याकृतिरत्नकाः ।
**दक्षसूरीश्वराः** सन्ति,
सरलाः ब्रह्मचारिणः ।। १८ ।।

तत्पट्टधर-शिष्येण,
**सुशीलसूरिणा** मया ।
राजस्थाने हि प्रख्याते-
देशे मरुधरे शुभे ।। १९ ।।

कोसेलावपुरे वर्षा-
स्थितिं प्रकुर्वता मुदा ।
द्विपञ्चाशद् द्विसहस्रे,
वैक्रमे वत्सरे वरे ।। २० ।।

भाद्रशुक्लचतुर्थ्यां च,
संवत्सर्यां शुभे दिने ।
नेमि–लावण्य–दक्षाणां,
गुरूणां कृपया कृता ।। २१ ।।

अन्ययोगव्यवच्छेद-
व्याख्या '**स्याद्वादबोधिनी**' ।
संस्कृते चाथ भाषायां,
भूयात् भूतये सताम् ।। २२ ।।

स्याद्वादबोधिनी भूयाद्-
बालानां हितकारिणी ।
जिज्ञासाञ्चितचित्तानां,
विदुषां प्रीतये तथा ।। २३ ।।

यावन्मेरु-मही-तारा,
पुष्पदन्त प्रभासिता ।
भायात् तावदिदं विश्वे,
मन्ये ज्ञानप्रदायकम् ।। २४ ।। □

## 卐 गुरु-गुणानुवाद-स्तवना 卐

सुशीलता सज्जनता विनम्रता,
दयालुता कोमलता कृपालुता ।
इमे गुणा यत्र वसन्ति सर्वदा,
**सुशीलसूरिर्वितनोतु** वः शिवम् ।। १ ।।

गम्भीरता यत्र सुमेरुसन्निभा,
अगाधता वेदसमुद्रतोऽधिका ।
सुधामुधाकारि वचांसि सर्वदा,
सुशीलसूरिर्वितनोतु वः शिवम् ।। २ ।।

सुचारुता चारुचरित्रचन्द्रिका,
विशुद्धता निर्झरवारिनिर्मला ।
सुसाधुता साधकसिद्धसौम्यता,
सुशीलसूरिर्वितनोतु वः शिवम् ।। ३ ।।

जलौघपूर्णे जलदे विनम्रता,
फलैर्भृते कल्पतरौ वनस्पतौ ।
अधिश्रियन्ती च तयोर्विनम्रता,
सुशीलसूरिर्वितनोतु वः शिवम् ।। ४ ।।

उपागते विष्टपवित्तसंचये,
जगत्त्रयाकर्षणकार्मणोपमे ।
निरीहता यत्र सुजन्मनागता,
सुशीलसूरिर्वितनोतु वः शिवम् ॥ ५ ॥

गुरुर्हि लावण्यपयोऽधिपारगो,
लावण्यसूरिर्भुवनेषु विश्रुतः ।
यस्याऽभवत् तत्पदकञ्जषट्पदः,
सुशीलसूरिर्वितनोतु वः शिवम् ॥ ६ ॥

गुरूपमो दक्षसुधीश्वरो गुरुः,
सुदक्षता संयमसिन्धुपारगा ।
तदीय पादाम्बुजषट्पदो भवान्,
सुशीलसूरिर्वितनोतु वः शिवम् ॥ ७ ॥

सदैव दीनोद्धरणे दयालुता,
जिनेन्द्रबिम्बन्यसने प्रवीणता ।
जिनागमानां प्रथने प्रगल्भता,
सुशीलसूरिर्वितनोतु वः शिवम् ॥ ८ ॥

अष्टापदं तीर्थवरं शिवप्रदं,
सुशीलसूरिः कृतवान् नभोगतम् ।
वरा हि रानी मरुभूमिवासिनी,
सुशीलसूरिर्वितनोतु वः शिवम् ॥ ९ ॥

अहो ! उपाध्यायपदेन भूषितः,
जिनागमाब्धेर्मथनेऽपि मन्दरः ।
जिनोत्तमो यस्य विनेयभूषणः,
सुशीलसूरिर्वितनोतु वः शिवम् ।। १० ।।

सुशीले सद्गुरौ प्रेक्ष्य,
गुणान् विश्वोपकारकान् ।
सुधी **रामकिशोरोऽयं**,
कृतवान् कीर्त्तिमुत्तमाम् ।। ११ ।।

## —आशीर्वादः—

रानोग्रामनिवासिनोधनिवराः
श्राद्धा जिनाराधकाः,
वर्द्धन्तां धन-धान्यवित्तविपुलैः
पुत्रैः कलत्रैर्भृशम् ।
कीर्तिर्यातु दिगन्तरे सुरपुरे
पारे समुद्रेऽमला,
भक्तिर्वो रमतां जिनेन्द्रपदयोः
लक्ष्मीः समेषां गृहे ।। १ ।।

**—आचार्यरामकिशोरपाण्डेयः,**
**रानी**
माघशुक्ला त्रयोदशी गुरुवासरे, सं. २०५३

जैन जगत् के महान् संत परमपूज्य **आचार्य श्री सुशीलसूरीश्वरजी म. सा.** के पावन पवित्र चरण-कमलों में सभक्ति सादर समर्पित–

## अभिनन्दन – पत्र

**राष्ट्र के महान् संत !**

आप भारतीय संस्कृति, धर्म एवं दर्शन जगत् के एक चमकते हुए सितारे हैं। आपके जीवन के कण-कण में ज्ञान की ज्योति, सत्य की मधुर सुरभि और समता की रसधारा प्रवाहित हो रही है।

भारत की सन्त परम्परा के आप एक महान् गौरव हैं। आपके दिव्यज्ञान, त्याग और तपस्या से आज समूचा राष्ट्र आलोकित हो रहा है।

**परम गुरुभक्त !**

आपने अपने गुरुदेवों द्वारा जलायी गई ज्ञान-ज्योति को सदा प्रज्वलित रखते हुए राष्ट्र के कोने-कोने में शिक्षा,

सद्भाव व समन्वय का आलोक भरने का सफल प्रयत्न किया है। आप में जिनशासन-सेवा की अटूट लगन है तथा आप अपने गुरुदेव के द्वारा दर्शाये मार्ग पर चलने में ही अपना अहोभाग्य मानते हैं।

**एकता के महान् पुजारी !**

आपने जैन समाज को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए अपनी समस्त शक्ति, बुद्धि और जीवन समर्पित कर दिया। आप की सदैव प्रबल भावना रही है कि जैन समाज का परस्पर पूर्णतया संगठन हो और सभी भगवान महावीर स्वामी के एक झण्डे के नीचे एकत्र होकर समाज को समुन्नत करें।

**करुणा और ज्ञान के सिन्धु !**

प्राणी मात्र के दुःख से द्रवित हो उठनेवाला आपका हृदय दया और करुणा का अनन्त सागर है। आपका हृदय हमेशा जनकल्याण के लिए योजनारत रहता है। आप की प्रेरणा से देश के कोने-कोने में अनेक तरह के रचनात्मक कार्य समाज-उत्थान के लिए संचालित होते रहते हैं।

अनेक शिक्षण संस्थाओं, पुस्तकालयों, चिकित्सा-केन्द्रों का संचालन आपकी प्रेरणा तथा आशीर्वाद से हो रहा है। आपके पावन पवित्र व्यक्तित्व में श्रावक-वृन्द पर सम्मोहन-सा प्रभाव डालने वाली समर्थता है।

**अहिंसा के पुजारी !**

आप अपने पावन प्रवचनों के द्वारा देश के कोने-कोने में भगवान महावीर के सिद्धान्तों को गुंजायमान कर रहे हैं। आप पथ से भटके लोगों को अहिंसा के सच्चे मार्ग पर चलने का रास्ता दिखा रहे हैं। आपके तप एवं त्यागमयी जीवन से, आपकी वाणी में भरे ओज द्वारा बहुत से मांसाहारी आपके पवित्र और अमृतमय शब्दों को सुनकर सदा-सदा के लिए शाकाहारी बन गये हैं।

**परम श्रद्धेय गुरुदेव !**

आपश्री जैसे कर्मवीर और मानवतावादी महान् आध्यात्मिक सन्त को पाकर आज हम अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

हम शासनदेव से यही प्रार्थना करते हैं कि आपश्री की मंगलमय छत्रछाया इसी प्रकार शताब्दियों तक हम पर बनी रहे।

बस, इन्हीं मंगल कामनाओं के साथ यह **'अभिनन्दन-पत्र'** हृदय की असीम श्रद्धा-भक्ति के साथ समर्पित करते हुए—

**हम हैं आप के धर्मलाभ के आकांक्षी राजस्थान पत्रकार महासंघ के सभी सदस्यगण।**

**ओसवाल ज्योति**
**सम्पादक-रतनलाल बरड़िया**
वर्ष ७ अंक ३ फरवरी ९७ जयपुर से उद्धृत

卐

**नानाशास्त्रकदम्बरत्नभरिता, सारल्य - संस्थापिता।**
**स्याद्वादार्थविबोधनाय सुभगा, स्याद्वादसम्बोधिनी॥**
**बालानां हितकारिणी स्फुटतया, सिद्धान्तसारैस्तथा।**
**स्याद्वादात्मकरुक्मसूत्रनिहिता मालेव संराजते॥**

## सुकृत के सहयोगी

श्री लुणावा नगर की पावन भूमि पर
पूज्य गुरुदेवों की शुभ निश्रा में

**श्री जैन संघ, लुणावा**

की ओर से आयोजित
श्री अर्हद्महापूजन सहित
भव्य जिनभक्ति महोत्सव की
पावन स्मृति में

**श्री जैन संघ, लुणावा**

की ओर से सहयोग प्राप्त हुआ है।
एतदर्थ श्रीसंघ व कार्यकर्त्ताओं को
हार्दिक धन्यवाद


– प्राप्तिस्थान –

श्री पद्मप्रभु–आदीश्वर जैन देवस्थान पेढ़ी
मु.पो. लुणावा – ३०६७०६
स्टे. फालना, जि. पाली (राज.)